ISSN : 2455-4219

विचार
चिंतन
शोध सृजन

आलोचन दृष्टि
Aalochan Drishti

An International Peer Reviewed Refereed
Research Journal of Humanities

वर्ष : 07 | अंक : 29 | जुलाई - सितम्बर, 2022

प्रधान-संपादक
डॉ० सुनील कुमार मानस

संपादक
डॉ० योगेश कुमार तिवारी

प्रबंध-संपादक
डॉ० सुधीर कुमार तिवारी

आलोचन दृष्टि वर्ष-7 अंक-29 जुलाई - सितम्बर, 2022 ISSN : 2455-4219

ISSN : 2455-4219

आलोचन दृष्टि

Aalochan Drishti

An International Peer Reviewed Refereed Research Journal of Humanities

वर्ष - 07 | अंक - 29 | जुलाई-सितम्बर, 2022

Year - 07 | **Volume - 29** | **July-September, 2022**

प्रधान-संपादक

डॉ. सुनील कुमार मानस

संपादक

डॉ. योगेश कुमार तिवारी

प्रबंध-संपादक

डॉ. सुधीर कुमार तिवारी

© **प्रकाशक :**

संपादकीय / प्रकाशकीय पता :–

सृजनश्री न्यास,

आजाद नगर, बिन्दकी, जनपद–फतेहपुर,

उ0प्र0–212635

ई–मेल : aalochan.p@gmail.com

मुद्रण :– जय ग्राफिक्स एण्ड कान्सट्रक्सन,
आई0टी0आई0 रोड़, फतेहपुर–212601।

सदस्यता शुल्क	एक अंक	वार्षिक	आजीवन
व्यक्तिगत	300	1200	10,000
संस्थागत	400	1500	15,000

संरक्षक एवं सलाहकार मंडल

- **प्रो. गिरीश्वर मिश्र,** शिक्षाविद् एवं पूर्व कुलपति, म. गां. अं. हिं. वि., वर्धा, (महाराष्ट्र)।
- **प्रो. चितरंजन मिश्र,** पूर्व प्रोफेसर, पं. दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय (उ0प्र0)।
- **प्रो. नंदकिशोर आचार्य,** सुथारों की बड़ी गुवाड़, बीकानेर, राजस्थान–252028।
- **प्रो. सदानंद गुप्त,** निदेशक, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, (उ0प्र0)।
- **प्रो. कृपाशंकर चौबे,** महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, (महाराष्ट्र)।
- **प्रो. माधवेन्द्र पाण्डेय,** हिन्दी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग, मेघालय।
- **प्रो. प्रेमशंकर त्रिपाठी,** आशीर्वाद अपार्टमेन्ट, सी. ए. 5/10, देशबन्धु नगर, कलकत्ता।
- **प्रो. दिलीप सिंह,** इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक (म.प्र.)।
- **प्रो. आर0 एस0 सर्राजू,** हैदराबाद विश्वविद्यालय, (तेलंगाना)।
- **प्रो. उमापति दीक्षित,** केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा (उ0प्र0)।
- **प्रो. एस0 वी0 एस0 एस0 नारायण राजू,** तमिलनाडु केन्द्रीय विश्वविद्यालय, तमिलनाडु।
- **Shri. Tejendra Sharma,** Harrow & Weealdstone, Middlesex HA3 7AN (U.K.)
- **Mrs. Archana Painyuly,** Islevhusvej, 72 B, 2700, Bronshoj, Copenhagen, Denmark.

संपादक-मंडल

- **डॉ. उदयन मिश्र,** हरिश्चन्द्र पी. जी. कॉलेज, वाराणसी, (उ. प्र.)।
- **डॉ. बलराम शुक्ल,** संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
- **डॉ. शशिभूषण भट्ट,** संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, (उ. प्र.)।
- **डॉ. दण्डिभोट्ला नागेश्वर राव,** सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग, श्री चंदशेखरेंद्र सरस्वती विश्वविद्यालय, एनात्तूर–कांचीपुरम्, तमिलनाडु।
- **डॉ. आनंद कुमार,** राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, हमीरपुर, (उ. प्र.)।
- **डॉ. अमित दूबे,** आर्य महिला पी. जी. वाराणसी।
- **श्रीमती आकांक्षा अग्निहोत्री,** सरदार पटेल विश्वविद्यालय, बल्लभ विद्यानगर, आनंद–गुजरात।
- **डॉ. वर्षा तिवारी,** पं. शम्भूनाथ शुक्ल विश्वविद्यालय, शहडोल–(म. प्र.)।

विधि-परामर्शदाता

श्री **उमाशंकर त्रिपाठी** (एडवोकेट), सिविल कोर्ट, फतेहपुर उ0प्र0–212601।

नोट : सभी पद अवैतनिक एवं अव्यावसायिक हैं। प्रकाशित शोध–लेखों एवं उसमें दिये गये उद्धरणों के वाद–विवाद संबंधी किसी भी कार्यवाही का शोधकर्ता (लेखक) स्वयं जिम्मेदार होगा। इस तरह के किसी भी विवाद में संपादक, प्रकाशक एवं 'आलोचन दृष्टि' परिवार के किसी भी सदस्य की कोई जवाबदारी नहीं होगी। किसी भी प्रकार के विवाद–संवाद का समाधान फतेहपुर न्यायालय में ही होगा।

संपादकीय

आलोचना या आलोचन–दृष्टि समान्यतः दो रूपों में विश्लेषित की जाती रही है, पहली है सैद्धांतिक और दूसरी है व्यवहारिक। सैद्धांतिक–आलोचना हमें परंपरागत–संस्कृति से जोड़ती है जबकि व्यवहारिक आलोचना हमें अपने समय से जोड़ती है। सिद्धांत अपनी जगह अटल होते हैं और व्यवहार समय की आवश्यकतानुरूप बनते–बिगड़ते रहते हैं, जिन्हें परिवर्तनगामी भी कहा जा सकता है; लेकिन यहाँ यह बात जान लेना आवश्यक है कि सैद्धांतिक–आलोचना से जुड़ने के बाद आप अपने समय को पार करते हुए, कालजयी भी हो सकते हैं जबकि व्यवहारिक–आलोचना आपके साथ ही शुरू होती है और आपके साथ ही ख़त्म भी हो जाती है।

हम अपनी सभ्यता, संस्कृति एवं साहित्य की परंपरा को जब देखते–सुनते और समझते हैं तो उसकी सैद्धांतिकी से भी परिचित होते जाते हैं क्योंकि उस समय की व्यवहारिकी, जो थी, वह अपने समय को पार नहीं कर सकी और हम लोगों के चिंतन से हमेशा के लिए अलग हो गई या कहें कि हम सभी उसकी समझ से अवंचित रह गए। एक बात यह भी स्पष्ट है कि सिद्धांतों का ही लोग विवरण देते हुए अधिकतर नजर आते हैं।

ये सभी बातें हमारे चिंतन की महज एक प्रक्रिया है जिसकी ओर प्रायः सभी का ध्यान कभी न कभी जाता ही है, पर हमें यह स्वीकार करना होगा कि जो कुछ आधुनिक है या जिसे हम सभी आधुनिक मानते हैं वह सब औपनिवेशिक संस्कृति से ही जुड़ी हैं। हमारी वर्तमान संस्कृति, परंपरा, साहित्य, समाज और शिक्षा भी उसी औपनिवेशिक–संस्कृति से जुड़कर ही आगे बढ़ रही है। हम सभी इस औपनिवेशिक–संस्कृति में जकड़े हुए हैं तो आलोचना भी इस औपनिवेशिक–संस्कृति से मुक्त कैसे रह सकती है? बल्कि तमाम कोशिशे मुक्त होने की या मुक्त करने की छटपटाहट के रूप में जरूर दिखती रही है किंतु समय के साथ सभी कोशिशें काल–कलवित भी होती रही हैं। फिर भी यह जोर देकर कहना चाहता हूँ कि ये कोशिशे समय–समय में नए–नए रूपों में हमें दिखलायी देती रही है और देती रहेंगी– यह एक शाश्वत एवं सांस्कृतिक प्रक्रिया है या कहें कि यह एक धारा है, जो हमेशा प्रस्फुटित होती रही है और हमेशा प्रस्फुटित होती रहेगी और यह प्रस्फुटन हमारे नव–उन्मीलित जीवन का राग–बिहाग है जिसमें हम सभी अनुरंजित होते रहते हैं। यह अनुरंजन जब निजी स्वार्थ के बंधन से उठकर लोकोन्मुखी हो जाता है, तो हमें वह आनंद की सिद्धावस्था में भी पहुँचा देता है।

इसी आनंद की सिद्धावस्था की प्राप्ति ही– हमारे तमाम साधकों की वृत्ति रही है, जिसे हम अपनाते रहे हैं और पारंपरिक एवं स्वाभाविक रूप से आने वाली पीढ़ी में पहुँचाते भी रहे हैं ताकि इस नव–उन्मीलित के प्रवाह की प्रक्रिया को अनवरत बनाए रखा जा सके और सभी इसके प्रवाह से अभिसिंचित होते रहें।

बात शुरू हुई थी सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक आलोचना से– इस संदर्भ में हमें यह समझ लेना चाहिए कि जो भी इस आधुनिक समय की व्यवहारिक–आलोचना है, वह औपनिवेशिक आलोचना है, उसके बाहर की नहीं। यह बात अलग है कि वह अब लिखित रूप में ढ़लकर जीवंत बन गई है, लेकिन यहाँ थोड़ा ध्यान देना होगा कि जो सौ वर्ष पहले की 'व्यवहारिक–आलोचना' थी, क्या वैसी ही 'व्यवहारिक–आलोचना' आज भी है? तो अधिकतर पढ़े–लिखे एवं समझदार लोगों का उत्तर होगा– 'नहीं'। अब इस 'नहीं' की संस्कृति को

समझने की कोशिशें करें कि जब सौ वर्षों में 'नहीं' का प्रभाव, इतना प्रबल हो गया है तो हजारों वर्षों की 'व्यवहारिक–आलोचना' पर कितने 'नहीं' लग जायेंगे या कितना 'नहीं' का भाव प्रबल हो जायेगा? किन्तु सैद्धांतिक–आलोचना के विषय में किसी भी पढ़े–लिखे और समझदार व्यक्ति से चर्चा करो या खुद देखो–सुनो, पढ़ो–लिखो और समझो, तो इसमें कहीं भी इस 'नहीं' यह भावबोध दिखाई नहीं देगा? यह सारा 'नहीं', हाँ में परिवर्तित हो जाएगा।...

हमें इस बात को समझने की जरूरत है, और जो आधुनिक विचारों के सतही चिंतन के आधार पर परम्परा एवं संस्कृति को बिसूरते फिरते हैं, उनसे पूँछने लायक है कि आप उसे कितना जानते हैं और कितना अपनाते हैं। तमाम जिज्ञासु को इसका उत्तर स्वमेव मिल जाएगा। बस, मैं एक और बात को लिखकर तत्कालिक–तार्किक–वैचारिक–प्रक्रिया को– यहीं पर अब रोकना चाहता हूँ। आगे कोई बात होगी तो फिर देखा जाएगा। बात यह है कि हम सभी अपने 'समय की पुकार' है और सबकी एक तरह की निजी 'कल्पनात्मक अनुभूति' भी होती है। केवल यह ध्यान रखने की जरूरत है कि उसमें स्वार्थ की कहीं 'बू' न आने पाये क्योंकि जहाँ स्वार्थ की 'बू' होती है, वहाँ सामान्य–भावभूमि की खुशबू नहीं आती।...

प्रस्तुत अंक में आलोचन–दृष्टि–परिवार की बैठक के आधार पर संपादक मंडल में थोड़ा परिवर्तन किया जा रहा है। डॉ. आनंद कुमार, आकांक्षा अग्निहोत्री एवं डॉ. वर्षा तिवारी को संपादक मंडल में शामिल किया जा रहा है और संपादक–कार्य में लगातार निष्क्रिय रहने के कारण एक विद्वान–सज्जन को कार्य–मुक्त किया जा रहा है। इसे पत्रिका के उपरोक्त अंक में देखा जा सकता है। आने वाले समय में आलोचन–दृष्टि के परिवार को लेकर और भी अन्य परिवर्तन, संपादक–कार्य की सक्रियता एवं निष्क्रियता की दृष्टि को लेकर परिलक्षित होंगे। आलोचन–दृष्टि–परिवार के प्रबंध–संपादक 'सुधीर कुमार तिवारी' जी को, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा–महाराष्ट्र से शिक्षा के क्षेत्र में 'डॉक्टरेट की उपाधि' से विभूषित किया गया है, उन्हें बहुत–बहुत बधाई एवं शुभकामनाएँ।

इस अंक में भाषा, समाज एवं संस्कृति के बहुआयामी वैचारिक शोध–लेखों को संकलित किया गया है। उपरोक्त अंक में कुल 21 शोध–लेख प्रकाशित हो रहे हैं, जिसमें हिंदी–भाषा के 19 शोध–लेख, और अंग्रेजी–भाषा के 02 शोध–लेख शामिल किये गये हैं। सुधी–पाठक अपने अध्ययन और विवेक से इनको पढ़कर, इनका मूल्यांकन कर सकेंगे– ऐसा मेरा विश्वास है।

इस अंक के संपादन हेतु आलोचन–दृष्टि–परिवार को आभार ज्ञापित करता हूँ एवं पाठकों के स्नेह एवं लगाव के प्रति कृतज्ञ भी हूँ।

शेष....

30 सितम्बर, 2022।

विषयानुक्रमणिका

- संपादकीय

1. समकालीन संदर्भ में गांधी-चिंतन 1-6
   डॉ. सुनील कुमार मानस
2. वर्तमान समय में प्रासंगिक होते कबीर 7-9
   डॉ. पराक्रम सिंह
3. धर्म और दर्शन की भारतीय अवधारणा 10-14
   आशुतोष सिंह
4. लोकगीतों का सामाजिक परिदर्शन 15-20
   डॉ. सत्य प्रकाश पाल एवं डॉ. अमित कुमार
5. नामवर सिंह की आलोचना दृष्टि पर प्रगतिवाद के संदर्भ में आचार्य हजारीप्रसाद... 21-23
   योगेन्द्र कुमार मीना
6. काव्यानुवाद की समस्याएं एवं समाधान 24-26
   मृणाल ठाकुर एवं डॉ. विदुषी आमेटा
7. नागार्जुन की रचना 'पारो' 27-30
   डॉ. विनय कुमार
8. हिन्दी आलोचना को प्रभाकर श्रोत्रिय का प्रदेय 31-33
   डॉ. आनन्द कुमार एवं सुधा देवी
9. आधुनिक काल में हिन्दी गीतकाव्य का विकास 34-43
   मोहन कुमार
10. तहसील धारचूला के व्यास और दारमा घाटी के रं जनजातियों के व्यापार की दशा 44-47
    महिपाल सिंह कुटियाल
11. पीली छतरी वाली लड़की : एक प्रेम-कथात्मक अध्ययन 48-50
    रीता देवी
12. आदिवासी हिन्दी कविताओं में बिम्ब और प्रतीक 51-55
    डॉ. अनीश कुमार

13.	**भारतीय आज़ादी में महिलाओं का योगदान** *डॉ. अंगदकुमार सिंह*	56-59
14.	**लोकतांत्रिक व्यवस्था में चतुर्थ स्तम्भ के रूप में पत्रकारिता का दायित्व** *डॉ. राकेश कुमार*	60-62
15.	**भौतिकवाद, अध्यात्मवाद और यथार्थवाद की त्रिपथगा : 'दौड़'** डॉ. नीलम देवी	63-65
16.	**निर्मल वर्मा के कथा साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव** रिंकी यादव	66-68
17.	**साहित्य की सशक्त विधा : उपन्यास** *डॉ. अतुल कुमार यादव*	69-71
18.	**मन्नू भंडारी की कहानियों का वैचारिक परिप्रेक्ष्य** *डॉ. रंजन एम. परमार*	72-74
19.	**सामाजिक समझौता सिद्धांत : एक प्रदेय** *डॉ. योगेशकुमार करशनभाई चाडसणिया*	75-77
20.	**Tool For Stydy Testing : Rubrics** *Patel Khushbu Dineshbhai & Dr. Kirtiben Thakar*	78-81
21.	**Origin of the Aryans** *Santosh Kumar*	82-86

ഩ★ന

समकालीन संदर्भ में गांधी-चिंतन

डॉ. सुनील कुमार मानस*

समकालीन या समकालीनता एक ऐसा वैचारिक अवयव है, जिसे केवल अंग्रेजी शब्द Contemporary के संदर्भ में ही नहीं समझा जा सकता, बल्कि इसे समझने के लिए वर्तमान में तीन दृष्टियाँ प्रचलित हैं : पहला है– 'एक निश्चित कालखंड', जिसमें हम सब जीते हैं। दूसरा है– जिस समय में हम हैं, 'उसकी वैचारिक दृष्टि का बोध' यानी कि अपनी परम्परा, संस्कृति एवं साहित्य के अतीत की समझ। और तीसरा है– समकालीन वैचारिक दृष्टि। इस तरह से समकालीनता हमारे समस्त वैचारिक चिंतन के अद्यतन होने का भी द्योतक है, और भविष्य की समझ का नियामक भी। वह वर्तमान, भूत, भविष्य को मूल्यांकित एवं प्रतिष्ठित करने वाला 'एक दृष्टिकोण' भी होता है, और भविष्य का निर्णायक एवं नियामक भी। जिसको समकालीनता की समझ नहीं, वह जड़वत रहने वाला एक प्राणी ही हो सकता है और भविष्य का निर्णायक एवं नियामक कभी नहीं बन सकता। अस्तु, कहा जा सकता है कि समकालीन होना अपडेट (अद्यतन चिंतन से जुड़ना) होना है।

गांधी चिंतन हमारे समय का सबसे सरल एवं जटिल विषय है। सरल इस संदर्भ में कि जो भारतीय चिंतनधारा की विचारधारा से जुड़ा हुआ है और उसके श्याह एवं श्वेत पक्ष को जानता है, वह उन्हें महत्वपूर्ण मानता है, लेकिन जो तमाम अन्य मनगढ़ंत विचारधाराओं से जुड़कर गांधी को– बिना पढ़े–लिखे, बिना समझे, मूल्यांकित करता है, उनकी समझ लगातार– उन्हें जटिल बनाती है। गांधी–चिंतन इन दोनों में है, किंतु प्रश्न बनता है कि गांधी–चिंतन को हम किस रूप में निर्धारित करें, जो गांधी के द्वारा लिखा गया है या जो गांधी के विषय में लिखा गया है। एक में स्वांतः–अभिव्यक्ति है और दूसरे में धारणात्मक। यहाँ मैं इसी स्वांतः–अभिव्यक्ति एवं धारणात्मक अभिव्यक्ति को केंद्र में रखते हुए समेकित मूल्यांकन करने की कोशिश करूँगा।

अब ये कहना चाहता हूँ कि गांधी को इस दुनिया से विदा हुए ७३ वर्ष व्यतीत हो गये हैं। इन वर्षों में तमाम वाद–विवाद एवं संवाद के साथ उनको लेकर तमाम प्रतिपाद भी हुए हैं और लगातार हो रहे हैं। ऐसा नहीं है कि गांधी के समय में ऐसा हुआ ही नहीं, पर उसकी एक सीमा थी और गांधी के त्याग एवं निष्ठा के सामने, ये प्रतिवाद हमेशा फीके पड़ जाते रहे हैं। त्याग के सामने दुनिया झुकती ही है और गांधी का त्याग 'स्व' का सम्पूर्ण विसर्जन है। एक शायर का भी अभिमत है– मिटा दे अपनी हस्ती को अगर तू मर्तबा चाहे।/कि दाना ख़ाक में मिलकर गुल–ओ–गुल्जार होता है।।

गांधी ने अपनी हस्ती को ख़ाक की तरह इस देश की मिट्टी में मिला दिया था। फिर इससे जो गुल–ओ–गुल्जार करने वाला वृक्ष तैयार हुआ, उसकी महानता एवं उपयोगिता से आज भी हम लोग अभिसिंचित होते रहते हैं।

हमारे सामने सबसे बड़ी परेशानी यह है कि आजादी के बाद गांधी को हमने अध्ययन–अध्यापन और चिंतन का विषय बनाया गया, तमाम संस्थान भी खोल गये, अध्ययन–केन्द्र भी न जाने कितने बनाये और बिगाड़े गये, पर गांधी की चिंतन–दृष्टि एवं विचार को हम समझ नहीं पाये। मसलन तमाम तरह के पाठ्यक्रमों के आधार पर हम गांधी–चिंतन में स्नातक एवं परास्नातक से लेकर विद्या–वारिधि जैसे प्रमाण–पत्र भले ही हासिल कर रहे हों, पर स्थिति वैसी–की–वैसी ही है– ढ़ाक के तीन पात। पहला पात है– गांधी जैसा कोई चिंतक नहीं हुआ। वे बहुत महान थे। उनका कोई मुकाबला नहीं है। इस पात के अनुयायी गांधी–चिंतन में डूब गये हैं,

---

***प्रधान संपादक– आलोचना दृष्टि एवं सहायक प्राध्यापक, बहाउद्दीन आर्ट्स कॉलेज, जूनागढ़ (गुजरात)।**

उससे उबरकर उन्हें देखने, सुनने एवं समझने का, वे नाम तक नहीं लेते हैं। यह वर्ग गांधीवादी कहलाता है और सिर्फ उनका गुण–गान करता रहता है। दूसरा पात वह है, जो गांधी को स्वार्थवादी, जड़ एवं अवसरवादी आदि कहकर उनकी घोर उपेक्षा करता है। उसका मानना है कि गांधी अगर न होते, तो देश की स्थिति– इतनी न खराब होती। अर्थात् जो खराब हुआ, उसके लिए गांधी ही जिम्मेदार है। यह गांधी के विरोधियों का वर्ग है। तीसरा पात वह है जिसकी आँखें समरस हो गयी हैं। वे जो भी देखते हैं उसमें अच्छा और बुरा निकाल कर सम्यक व्याख्या करने में पीछे नहीं रहते और सामान्य धरातल में विवेचित एवं विश्लेषित भी करते रहते हैं। यह वर्ग पक्ष–विपक्ष के दल–दल से ऊपर उठा हुआ होता है। इन्हीं वर्गों के घेरों में अध्ययन–केन्द्र वाले प्राध्यापक एवं विद्यार्थी भी शामिल हैं। उनकी चिंतन–दृष्टि, इससे ऊपर नहीं उठ पाती। अमूमन इन्हीं तीन–पात वाले वैचारिक–वर्ग में ही, सभी बँधे हुए हैं। शायद, इससे बाहर जाना भी कठिन है, पर असंभव नहीं।

ऐसे में गांधी को कैसे समझा जा सकता है? अध्ययन से हम सिर्फ जानकारी हासिल करते हैं। चिंतन से सृजनात्मक कल्पना से जुड़कर नवीन विचारों की, सृष्टि करते हैं, जैसा कि साहित्य के क्षेत्र में प्रायः हुआ करता है। तब यह समझना कैसे संभव होगा? पं. विद्यानिवास मिश्र का 'गांधी का करुण रस' नामक एक ललित निबंध है, जिसके अंत में उन्होंने लिखा है– ''हिंदी में गिरिराज किशोर ने गांधीजी के दक्षिण अफ्रीका में किए गए अभियान का लेखा–जोखा 'पहला गिरमिटिया' के रूप में प्रस्तुत किया। पर दक्षिण अफ्रीका तो गांधीजी की प्राथमिक शाला थी। उसके बाद उनके सारे प्रयोग भारत में हुए। उन्होंने कोयले को ही अपनी ऊर्जा के ताप से हीरा बनाया और उनका अपना हीरा कोयला बन गया। हमारे देश में या तो उन्हें महिमा के आलोक में छिपा रखा है या फिर उनको प्रतिगामी, सर्वहारा का शत्रु, पूँजीवाद का हथियार आदि एक–से–एक लफ्फाजी भरे विश्लेषणों से घेर रखा है। गांधीजी दोनों नहीं थे, वे नर के भीतर नारायण के बेसँभाल व्यथा थे।''[1] आगे उन्होंने लेख का अंत करते हुए भविष्यगामी स्वप्न देखा है– ''मन में इतना विश्वास है कि एक–न–एक दिन गांधी की वह विराट व्यथा उसी तरह हमारे हृदय में करुणा की रसधार बनेगी, जिस तरह 'महाभारत' में युधिष्ठिर का विषाद बना, श्रीकृष्ण का अकेलापन बना, राजाराम की सीता के बिना जीवन की व्यर्थता का दुःख बना। तभी देश का चित्त परखा जायगा और शुद्ध चित्त से देश के विकास की चिंता होगी।''[2] इस तरह पंडित विद्यानिवास मिश्र ने जो अपने इस स्वप्न संकल्पित विचारों की अभिलाषा व्यक्त की, मेरी भी अभिलाषा है कि यह जल्दी सच हो। पर प्रश्न है यह कैसे संभव होगा? इस विषय को लेकर भी भारतीय एवं पाश्चात्य चिंतन में कार्य हो रहे हैं, बहुत से निष्कर्ष निकाले जा रहे हैं, उपाय सुझाए जा रहे हैं, लेकिन इस बाजारवादी एवं पूँजीवादी दौड़ में सब–के–सब विफल हो रहे हैं। मुख्य समस्या है 'मर्म को न समझ पाने की'। उसके 'बोध' को न आत्मसात कर पाने की। लखनऊ के शायर हकीम नासिर साहब ने लिखा है– ''दर्द को दिल में जगह दे नासिर/इल्म से शायरी नहीं आती।''

बात और विचार को केवल जान लेना ही आवश्यक नहीं है, बल्कि उसे 'बोध' के स्तर पर समझने की भी जरूरत है, आत्मसात भी करने की जरूरत है। इसीलिए बड़ा–से–बड़ा बन जाने वाला चिंतक, विचारक भी 'बोध' के स्तर पर, छोटी–सी बात को नहीं समझ पाता और जिसे अनपढ़ा, जाहिल, गँवार कहा जाता है, वह सिर्फ उसके इशारों को देखकर ही समझ लेता है। यही अंतर है– 'होने' और 'बनने' में। प्रायः आज लोग पढ़ा–लिखा, होशियार, विद्वान 'बनने' लगे हैं। उन्हें इसके तमाम प्रमाण–पत्र भी प्रदान किये जा रहे हैं। ऐसे में अगर यह 'बनने' वाला व्यक्ति, शिक्षा और समाज के क्षेत्र में शीर्षस्थ पदों में आसीन हो जाये तो, उस क्षेत्र में एक बड़ी गिरावट आयेगी। आज हर जगह ऐसा ही हो रहा है। एक शायर का कथन है– ''बर्बाद गुलिस्तां करने को इक शाख का उल्लू काफी था। / जहाँ हर शाख में उल्लू बैठा है अंजाम गुलिस्तां क्या होगा।''

हम इस भारत रूपी गुलिस्तां की दास्तां इन 'बनने' वाले लोगों के शीर्षस्थ पदों में सवार होने पर देख ही रहे हैं। समस्याओं के समाधान निकालते–निकालते, इतनी समस्याएँ आती चली जा रही हैं कि उसको ढ़ोना,

निर्वहन करना और जानना, लगातार कठिन होता जा रहा है। मूल की ओर बढ़ने के बजाय हम 'रूढ़' में ही फँसते जा रहे हैं। ऐसा रूढ़, जो सिर्फ उलसाने और विशेष रूप से फँसाने का पर्याय बन गया है। हमारी सारी कोशिश भी यही है कि यदि महत्त्वपूर्ण बनना है तो लोगों को फँसाओ और उलझाओ। उन्हें स्वतंत्र एवं स्वाधीन चिंतन की ओर उन्मुख ही न होने दो।

आज हर क्षेत्र में ऐसा ही हो रहा है। हमारे धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक संगठन भी, इसी को अपना पवित्र ध्येय समझने लगे हैं। यानी जो मार्गदर्शन की भूमिका निभाकर रक्षक का कार्य करता था, वही अब भक्षक का कार्य करने लगा है, जबकि हमारे मनीषी भक्षक से भी, रक्षक का कार्य करवा लेने को अपनी सिद्धि समझते थे। ऐसे मनीषी अब रहे भी कम, और जो हैं, उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखा जा रहा है, उन्हें किसी जगह पर स्थिर नहीं होने दिया जाता।

गांधी जी ऐसे ही मनीषी थे। हम उन्हें समझने के लिए तमाम उपक्रम तो रच रहे हैं, लेकिन समझ नहीं पा रहे। मुझे एक प्रसंग याद आ रहा है। एक बार एक व्याख्यान में एक जिज्ञासु ने मुझसे जिज्ञासा प्रकट की कि 'गांधी के समय में और आज के समय में, गांधी को समझने में क्या अंतर है?' मैंने जवाब दिया था– भाई, उस समय गांधी जी की 'समझ' हमारी थी। आज हमारी समझ 'गांधी' हैं। यानी हम जो थोड़ा–बहुत, उल्टा–सीधा गांधी को लेकर पढ़ते–सुनते हैं, उसी के आधार पर, उनकी एक धारणा (राय) बना लेते हैं और उसी के आधार पर जिन्दगी भर– यही ढ़ोलक पीटते हैं– कि गांधी ऐसे ही थे। उसके आगे–पीछे जाने और समझने का न तो हम अवकाश निकालते हैं और न ही इसके लिए कोई प्रयास करते हैं। गांधी के समय में गांधी जी को लोग देखते थे, सुनते थे, गुनते थे, जो जिज्ञासा होती, उन्हीं से ही पूँछ लेते और जान भी लेते थे। उनकी दैनिक जीवन–चर्या भी बहुत सी जिज्ञासाओं का समाधान– स्वयं ही कर देती थी।

आज जब गांधी नहीं हैं, तब गांधी को पूर्णतः जानना एक 'रिक्तता' पैदा करता है। उन्हें याद किया जाता है, अपनाया नहीं। पहले लोग उन्हें अपनाते ज्यादा थे। अपनाने में 'याद' स्थायी हो जाती है। सिर्फ याद से 'याद' भी भूल जाती है। किन्तु गांधी की अब हमें बहुत याद आती है, पर क्या कर सकते हैं? निराला की रचना 'कुकुरमुत्ता' बार–बार स्मृति में छाने लगती है– 'अब कुकुरमुत्ता उगाये नहीं उगता।' हमने अपनी मातृभूमि को अंग्रेजी पराधीनता से भले ही मुक्ति दिला दी हो, लेकिन अंग्रेजियत की पराधीनता से हम आज भी मुक्त नहीं हुए और जब तक हम इससे मुक्त नहीं होंगे, तब तक हम भारत–भूमि की इस स्वर्णिम मिट्टी को जानना–समझना तो दूर– उसको देख भी नहीं पायेंगे। ऐसे में कुकुरमुत्ता का उगना तो संभव ही नहीं, उसके उगने की आशा भी– हममें न रहेगी।

आज भारत का जिसे हम इतिहास कहते हैं, जो हमारे ग्रन्थों (वेद, उपनिषद्, आरण्यक–ग्रन्थ, ब्राह्मण–ग्रन्थ, पुराण, रामायण, महाभारत, श्रीमद्भगवद्गीता, कुमारसंभव, रघुवंशम् आदि) में मिलता है। उसमें भारत की स्वर्णिम परम्परा की अद्भुत झांकी के दर्शन भी होते हैं। उन्हें पढ़कर, हमारे मन में गौरव, गर्व एवं उत्साह की भाव–धारा हिलोरे लेने लगती हैं, इस मिट्टी के कण–कण से– अगाध स्नेह के मेघ घुमड़ने लगते हैं। पर हमने समझना तो दूर, पाश्चात्य की दृष्टि के आधार पर उसे बिसूरना भी शुरू कर दिया है। उसका 'अपनापन' पूरा–का–पूरा 'परायापन' में बदलता जा रहा है। गांधी ने इसको समझा था, जाना था, उसे अपनाया था, उन्हें इसकी गौरवमयी परम्परा और मर्यादा का 'बोध' था, जबकि लगभग उसी दौर के मनीषी डॉ. अम्बेडकर को इसके प्रति कोई समझ न थी। वह पाश्चात्य के चश्मे से ही भारत को देखते रहे। पाश्चात्य की दृष्टि के आधार पर डॉ. अम्बेडकर ने 'भारत की जाति–परम्परा' पर अपनी थीसिस लिखी, जिसका भारत के विभाजन में अंग्रेजों ने भरपूर इस्तेमाल किया और विभाजन का फायदा उठाया। गांधी इस बात को समझ रहे थे। पर करते तो क्या करते? उन्होंने तो भारतीयता के सम्पूर्ण रंगों को अपने में आत्मसात करने की कोशिश की थी, जातीयता को भारतीयता में– बदलने की कोशिश की थी, जिसमें वे काफी सफल भी हुए, चाहे वह समाज का क्षेत्र हो,

राजनीति का क्षेत्र हो, संस्कृति का क्षेत्र हो, शिक्षा का क्षेत्र हो, धर्म का क्षेत्र हो, भाषा का क्षेत्र हो, चिकित्सा का क्षेत्र हो या फिर खान–पान का ही क्षेत्र क्यों न हो। सभी में वह विविध प्रयोग करते रहे हैं। इन सबके प्रति उनके अपने निजी विचार एवं अनुभव रहे हैं। कुल मिलाकर गांधी भारतीय भाव–बोध से ओत–प्रोत थे। उन्हें समझना, भारत को समझना हो गया था।

संकुचित विचार की जड़ता में बँधे लोग गांधी को समझना तो दूर उनका विरोध/प्रतिरोध भी करने लगे थे। पर भारतीय जनता का उनके प्रति अगाध विश्वास था। वह गांधी में भारत का भविष्य तलाश कर रही थी। कितना दुःखद है कि सत्ता के लोभ में गांधी से कुछ विशिष्ट लोग जुड़े क्योंकि गांधी से जुड़ना, भारतीय जनता से जुड़ना था और सत्ता हासिल होने पर गांधी तितर–बितर हो गये या कर दिए गये। किन्तु जब भी भारतीय जनता को कोई मार्मिक चोट लगती है तो वह यह कहने में पीछे नहीं रहती कि जब भारत के लोगों ने गांधी को नहीं समझा तो हमको क्या समझेंगे? यह बात गांधी की सशक्त 'पहचान' की द्योतक है। मन नज़ीर के शे'र की ओर चला ही जाता है–

जमीं वालों ने जब तेरी कद्र कम कर दी मेरे बापू।
जमीं से ले गये तुझको उठा के आसमां वाले।।

अब प्रश्न उठता है कि गांधी में ऐसा क्या था, जो आकर्षित करता है। जितना भारतीयों को, उससे कहीं अधिक पाश्चात्य के लोगों को भी, वे प्रिय लगने लगे हैं। थोड़ी परेशानी वाली बात है कि जब पाश्चात्य के लोग गांधी के आधार पर भारत को समझने की कोशिश करते हैं, तब हम भी उसी तर्ज में उन्हें जानने, खासतौर से 'तलाश' करने की कोशिश में लग गये हैं। 'गांधी–अध्ययन' और 'शान्ति–केन्द्र' के बहुत से पीठ बन गये हैं। इस दौड़–भाग के समय जब लोगों के पास 'समय' नहीं है तो शान्ति की 'तलाश' शुरू की है। भारत में पहले कभी इसकी सिखाने एवं समझाने या 'तलाश' करने की कोई आवश्यकता न थी। हर व्यक्ति शान्ति और संतोष की वृत्ति को स्वभावतः अपने में धारण करता था। प्रकृति के रंग में, रंग जाने के बाद उसका सम्पूर्ण विकास प्रकृति के ढंग में ही विस्तार पाता था। अब हमारा स्वभाव पाश्चात्य की 'लोभ' और 'व्यापार' की नीति में रमा है, तब इसका अवकाश कहाँ? फिर शान्ति की तलाश एक मानसिक और क्षणिक आवश्यकता के रूप में– हमसे जुड़ गयी है। जहाँ शान्ति नहीं, वहाँ आनंद कहाँ? जब आनंद नहीं तो उत्सव–धर्मिता के समस्त स्वरूप मात्र दिखावे हैं, छलावें हैं।

मानविकी के विषयों की ओर ध्यान दिया जाय तो प्रायः हम पाते हैं कि कोई ऐसा विषय नहीं शेष रहा, जिसमें गांधी को लेकर चिंतन न हुआ हो, चाहे वह साहित्य का हो, समाज का हो, राजनीति का हो, नीतिशास्त्र का हो, संस्कृति का हो, संस्कृत का हो, अर्थशास्त्र का हो, धर्म का हो, दर्शन का हो, शिक्षा का हो, अथवा प्रबंधन जैसे विषयों का ही क्यों न हो। सभी क्षेत्रों में गांधी की दृष्टि एवं चिंतन पर विचार–विमर्श लगातार हो रहे हैं, और उनकी दृष्टि और चिंतन को सराहा भी जा रहा है, पर अमल वह भी नहीं कर रहे, जो उसके संवाहक बने हुए हैं। तब आम जनता से क्या उम्मीदें की जा सकती हैं? इसके अतिरिक्त उनको लेकर जनता में कुछ ऐसा प्रचार–प्रसार किया गया, जिससे एक 'हसोड़ी' छवि उनकी विकसित हुई। जनता के मन में आज वह 'छवि' उनकी नहीं रही, जो १६१५ से लेकर १६५० तक के समय या उस पीढ़ी के लोगों में थी। प्रायः हमारे बुजुर्ग लोग यह बताते थे कि जब गांधी की हत्या की गयी, तब गाँव–गाँव, घर–घर तक में उदासी छा गयी थी। लगभग सभी गाँवों में लोगों ने खाना नहीं खाया था। बड़ों से लेकर बच्चों तक का बिलखना और रोना कई दिनों तक चलता रहा था। प्रतिदिन शोक सभाएं छोटे या बड़े स्तर पर लगातार की जाती रही थी। सभी जगहों में उनकी 'शवयात्रा' निकाली गयी थी एवं तेरहवीं भी कराई गयी थी। उनकी शवयात्रा का जुलूस लगभग सभी बड़े शहरों में बहुत बड़ी भीड़ के साथ निकला था। जहाँ तक नजर जाती, केवल सिर ही सिर दिखते थे। उस पीढ़ी में गांधी के प्रति जो भाव था, वह उनकी अश्रुपूरित आँखों में स्वयमेव दिख जाता है। उनसे गांधी को लेकर कोई

बात करो, तो उनका मन आज भी सिसक उठता है। उसी गांधी के प्रति आज जब लोग सतही 'चुटकी' लेते हैं तो मन दुःखी हो जाता है। क्या कहें उनको, और क्या कहें इनके कर्णधारों को? ये लोग तो गांधी की बात का ध्यान ही नहीं दे सके कि– ''मानवता के लिए प्राणोत्सर्ग करने की आकांक्षा पालने से पहले भारत को जीना सीखना होगा।''[3] यह जीना कठिन संघर्षों एवं चुनौतियों के बीच सत्य की रक्षा करने से जुड़ा था।

गांधी ने अपने कर्मगत जीवन में न कभी अवकाश लिया और न किसी (जो उनसे जुड़ा था) को लेने दिया। एक बार उन्होंने कहा था– ''मेरी आँखें मूँद जाने और इस काया के भस्मीभूत हो जाने के बाद भी मेरे काम पर निर्णय देने के लिए काफी समय शेष रह जायेगा।''[4] शायद यह वही समय है, जब हम तमाम तरह के निर्णय गांधी को याद करते हुए लेते हैं, पर हम उनके काम को अपने में उतारने की जहमत नहीं उठाते। उन्हें इस बात की जानकारी ही नहीं कि– ''आग लगाने वालों को कहाँ खबर है/रूख हवाओं ने बदला तो खाक वो भी होंगे।''

गांधी जी के तीन प्रमुख अस्त्र थे, जिसमें वे लगातार प्रयोग भी करते रहे हैं। उनके नाम हैं– सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य। सत्य और अहिंसा को लेकर तो लगभग एक जैसी समझ लोगों के अन्दर मिल जाती है, लेकिन ब्रह्मचर्य की धारणा में वैचारिक मतभेद दिखाई देते हैं। कुछ का मानना है– जो विवाह कर लेता है, वह ब्रह्मचारी कहाँ रहा? और जब वह ब्रह्मचारी नहीं रहा तो वह कैसे ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है? हाल ही में मैंने एक संत के मुखार–बिंदु से सुना है कि वैवाहिक–जीवन के साथ भी– ब्रह्मचर्य रहा जा सकता है, अपनी पत्नी के अतिरिक्त प्रत्येक महिला को उम्र के आधार पर माँ या बहन मानकर। यही भारतीय चिंतन–धारा की 'ब्रह्मचर्य– जीवन' व्यतीत करने की मूल अवधारणा है, जिसे अपनाकर सदाचारी बना जा सकता है। सत्य के विषय में उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण बात कही थी कि– पहले मैं 'ईश्वर' को 'सत्य' मानता था पर अब 'सत्य' को ही 'ईश्वर' मानता हूँ। इसी तरह अहिंसा के संदर्भ में भी उन्होंने कहा था कि– अहिंसा मानो पूर्ण निर्दोषता है। पूर्ण अहिंसा का अर्थ है, प्राणीमात्र के प्रति दुर्भावना का अभाव।'' उस प्राणि–जगत में मनुष्य, पशु–पक्षी, पेड़–पौधे, जीव–जन्तु सभी समाहित हो जाते हैं। इन सभी के साथ मनुष्यत्त्व का व्यवहार ही अहिंसा का मूलाधार है। इसी को लेकर गांधी चले थे। आवश्यकता के अनुरूप ही वस्तुओं का उपयोग उनकी दृष्टि में 'उचित' था, उससे अधिक का 'अनुचित'।

गांधी की मूल विशेषता थी कि वे 'साध्य' को 'उचित–साधन' से ही प्राप्त करना चाहते थे। उनकी धारणा थी कि यदि हमारे साधन गलत या अहिंसक होंगे तो हमारा 'साध्य' भी पवित्र न रह पायेगा। इसीलिए वे भारत की स्वाधीनता को लेकर सत्याग्रह, सद्भाव, उपवास एवं असहयोग आदि उपक्रमों के विविध प्रयोग करते रहे हैं। इसी कारण भगत सिंह एवं सुभाष बाबू की विचारधारा से– वे असहमत रहते थे, क्योंकि गांधी की चिंता, स्वाधीनता के साथ स्वाधीनता–प्राप्ति के साधनों के प्रति भी अहिंसक– रहना थी, जबकि ये क्रान्तिकारी 'साध्य' को ही अधिक श्रेयस्कर समझते थे, साधन चाहे कैसे ही क्यों न अपनाने पड़े? गांधी की सोच इस बात पर अधिक जोर देती थी कि– ''सत्य की बलि देकर आजादी हासिल करने से बेहतर मैं यह समझूंगा कि भारत मिट जाय।''[5] गांधी की 'रामराज्य की परिकल्पना' भी इन्हीं सत्यनिष्ठ साधनों से निर्मित होने वाली रही है, जो तुलसी के रामराज्य के निकट ठहरती है, जिसके विषय में तुलसी बाबा ने लिखा भी है–

सब नर करहि परस्पर प्रीती। चलहि स्वधर्म निरत श्रुति नीती।
नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहि कोउ अबुध न लच्छन हीना।।
फूलहि फलहि सदा तरु कानन। रहहि एक सँग गज पंचानन।।

ऐसे गांधी के पास हिंसा का अवकाश ही कहाँ ठहर सकता था? 'सादा जीवन उच्च विचार' की धारणा से जिसने अहिंसक भोजन को ही अपना ध्येय एवं जीवन–वृत्ति का आधार बना लिया हो, उसकी हिंसा और प्रतिस्पर्धा में अनुरक्ति असंभव हो जाती है। कहते भी हैं, 'जैसा खाये अन्न, वैसा बने मन।' केवल इतना ही नहीं,

भोजन भी आप किस सोच के साथ करते हैं, उसका भी चित्त में पूरा प्रभाव परिलक्षित होता है। अब इसे वैज्ञानिक भी सत्य मानने लगे हैं।

गांधी स्वराज को लेकर बेहद चिंतित रहने वाले महापुरुष थे। उन्होंने इसकी प्रतिष्ठा के 'हिन्द स्वराज' जैसी महत्त्वपूर्ण पत्रिका निकाली थी। जिसमें शिक्षा से लेकर विविध समसामयिक मुद्दों एवं विषयों पर लगातार उनके विचारों की श्रृंखला मिलती है, जो आत्मोत्थान से समाजोत्थान के विविध परिदृश्यों की झांकी प्रस्तुत करती है। उनका मानना है कि– ''स्वराज एक पवित्र शब्द है। यह एक वैदिक शब्द है, जिसका अर्थ है, स्वशासन तथा आत्मनिग्रह; इसका अर्थ सब प्रकार के संयमों से मुक्ति नहीं है, जैसा कि प्रायः स्वाधीनता का अर्थ लगाया जाता है।''[6] उनकी दृढ़ धारणा थी कि ''सच्चा लोकतंत्र अथवा स्वराज झूठे, हिंसक साधनों का आश्रय लेकर कभी स्थापित नहीं किया जा सकता क्योंकि इसके प्रयोग का स्वाभाविक उपपरिणाम यह होगा कि आपको अपने हर प्रकार के विरोध को समाप्त करने के लिए दमन–चक्र चलाना होगा या विरोधियों को देश–निकाला दे देना होगा। हम इसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता नहीं कह सकते। व्यक्तिगत स्वतंत्रता केवल विशुद्ध अहिंसा के वातावरण में ही पल्लवित हो सकती है।''[7] इस तरह गांधी की दृष्टि भारतीय चिंतन–धारा की दृष्टि की संवाहक बनकर समग्र भारतीय चिंतन की भावधारा को नयी ऊर्जा एवं शक्ति के साथ अभिसिंचित भी करती है।

एक बात और उद्धृत करने की जरूरत है, वह है– भारत की शिक्षा–व्यवस्था का सर्वेक्षण करने के लिए 1787 ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री एडम को भारत भेजा। सर्वेक्षण के बाद उन्होंने अपनी रिपोर्ट में लिखा– ''भारतीय शिक्षा व्यवस्था 'एक गोल्डेन ट्री' है, जब तक उसे काटा नहीं जायेगा, तब तक ब्रिटिश साम्राज्य असंभव है।'' इसी आधार पर अंग्रेजों ने ऐसी अपनी शिक्षानीति भारत में विस्तारित की कि जिसकी लपटों में हम आज भी जल रहे हैं। गांधी ने लिखा भी है– ''इस सभ्यता की चपेट में आये हुए लोग खुद की जलाई हुई आग में जल मरेंगे।'' हमें इस बात की ओर ध्यान देना होगा कि पहले इस पश्चिम की संस्कृति की आग से बचें और अपनी शिक्षा के उस 'स्वर्ण–वृक्ष' की तलाश करें, जिसकी छाँव में बैठकर शान्ति की प्रेरणा पाते थे और सत्, चित् एवं आनंद की ओर बढ़ते थे।

आज गांधी को याद करते हुए उनके निर्देशित मार्गों को अपने प्रयोगों एवं अनुभव के आधार पर परखना होगा और उसमें चलना होगा। उनके विचारों को आत्मसात करते हुए दृढ़ता को उससे भली–भाँति अवगत कराना भी हमारा अभिलक्ष्य होना चाहिए। नहीं तो महान वैज्ञानिक आइन्सटीन की बात– 'आने वाली पीढ़ियाँ यह विश्वास कठिनाई से करेंगी कि कोई ऐसा रक्त–मांस का व्यक्ति धरती पर विचरता था'– सत्य हो जायेगी। आनेवाली पीढ़ी या तो उन्हें अजूबा की तरह देखेंगी या फिर उनको झूठी कल्पना का एक अंग मानकर छोड़ देगी।

संदर्भ–सूची :–

1. गांधी का करुण रस– पं० विद्यानिवास मिश्र, सत्साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, २००३, पृ० १६१।
2. वही।
3. यंग इण्डिया, १३–१०–१६३१, पृ० ३२०।
4. वही, ०४–०४–१६२६, पृ० १०७।
5. वही, ०१–१०–१६३१, पृ० २८१।
6. वही, १६–०३–१६३१, पृ० ३८।
7. हरिजन, २७–०५–१६३६, पृ० १४।

൭★൫

वर्तमान समय में प्रासंगिक होते कबीर

डॉ. पराक्रम सिंह*

समय के अनुसार ही समाज का निर्माण होना उस युग या सदीं की अपनी विशिष्ट उपलब्धि होती है। समय और समाज के सामंजस्य के अभाव में उस अवधि का विकास सम्भव नहीं हो सकता। सामंजस्य के द्वारा ही व्यक्ति, परिवार, पड़ोस, ग्राम, जनपद तथा राष्ट्र का समुचित विकास एवं निर्माण का होना सुनिश्चित होता है। प्रत्येक बच्चे का जन्म यह बताता है कि अभी कुछ कार्य शेष रह गया है जिसे शायद वह पूर्ण करेगा और इस प्रकार निरन्तर जन्म और मृत्यु का क्रम सृष्टि का अनिवार्य हिस्सा बनता जाता है। मस्तिष्क के क्रमिक विकास में क्यों और कैसे जिज्ञासु प्रश्न व्यक्ति के जीवन को बदलने का कार्य करता है। क्यों जहाँ हमें स्वयं के बारे अर्थात् किस निमित्त आने की तरफ ले जाता है, वहीं दूसरी तरफ कैसे विज्ञान और निर्माण की धारा से जोड़ता है। जीवन जीने की इसी कला में व्यक्ति अपने अनुसार उपर्युक्त प्रश्नों में से समाज को कुछ न कुछ देने का प्रयास करता है जो उस काल की उपलब्धि या अवशेष रूप में गिने जाते हैं। समय की उस दृष्टि को ध्यान में रखकर ही भविष्य का निर्धारण करना उस काल के बौद्धिक वर्ग से अपेक्षा होने लगता है जिसमें व्यक्ति, भाषा, समाज, संस्कृति, चरित्र मूल्य कला आदि को संरक्षित एवं विकसित करने की भावना को महत्त्व दिया जाता है।

समय और समाज की इसी अपेक्षा में अनेक महापुरूष अपने जीवन को अर्पित करने का नैतिक दायित्त्व मानकर एक नये युग का निर्माण भी करते हैं। इसी परम्परा में मध्यकालीन समय समाज,संस्कृति, सभ्यता के समवाहक संरक्षक रामान्दाचार्य जी जिनके मार्ग पर चलकर उनके शिष्यों ने रामानन्दी भक्ति परम्परा एवं सम्प्रदाय समाज की नींव रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

जाति, धर्म, शिक्षा से ऊपर उठकर केवल समाज कल्याण की भावना में सदैव अपने को अर्पित करने वाले इस युग के चिंतक, मनीषी, कवियों ने समाज को एक नई दिशा प्रदान कराने का प्रयास करते रहे। अनन्तानन्द, नरहर्यानन्द, पीपा, कबीर, रैदास, धन्ना सेन सहित रामानन्दी के बाहर शिष्यों में कबीर का आज वर्तमान समाज में लोकप्रियता एवं प्रासंगिकता अधिक व्याप्त है। कबीरदास समाज में जन्म और पालन–पोषण का अलग परिवेश का अन्तर करते है। कबीरदास जाति और धर्म को मिटाते हुए कहते हैं –

जाति न पूछो साधु की, पुछि लिजिए ज्ञान।
मोल करों तलवार की, पड़ि रहति हैं म्यान।।

कबीरदास धर्म पर तीखा प्रहार करते हैं वे व्यक्ति को अधिक महत्त्व देते हैं, वे कहते हैं –

अरे ए दोनों राह न पाई।
हिन्दु की हिन्दुआई देखों, तुरकन की तुरकाई।।

कबीरदास परमात्मा की एक ही सत्ता पर बल देते हैं वे प्रत्येक जीव में उसी का अंश बताते है उनकी दृष्टि में कोई बड़ा नहीं है, सभी समान हैं–

एकै पवन एक ही पानी, एक जोति संसारा।
एक ही खाक घड़े सब भाँडे, एक ही सिरजनहारा।।

***प्रधान संपादक के सहायतार्थ हिंदी विश्वकोश परियोजना, केंद्रीय हिंदी संस्थान दिल्ली केंद्र बी –26 ए कुतुब संस्थागत एरिया शहीद जीत सिंह मार्ग नई दिल्ली 110016।**

इसी प्रकार जहाँ एक ही तरह की प्रकृति सबके लिए निर्मित होने की बात कबीरदास जी ने किया है कुछ इसी तरह की बात रामानन्द के ही शिष्य रैदास (रविदास) कहते हैं –

जाति एक जामें एकहि चिन्हा, देह अवयव कोई नहीं भिन्ना।
कर्म प्रधान ऋषि–मुनि गावें, यथा कर्म फल तै सहि पावें।
जीव कै जाति बरन कुल ना ही जाति भेद हैं जग भूखाई।
नीति–स्मृति–शास्त्र सब गावें, जाति भदे शठ मूढ़ बतावें।

कबीरदास ने जाति–पाँति के साथ ही कर्मकाण्ड समाज में फैले ढ़ोग आडम्बर का विरोध करते हैं, वे कहते हैं –

पाहन पूजे हरि मिलै, तो मैं पूजूँ पहार।
ताते यह चाकी भली, पीस खाय संसार।।

इसी प्रकार कबीरदास मुसलमानों को भी फटकार लगाते है–

काँकर पॉथर जोरि कै, मसजिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, क्या बहिरा हुआ खुदाय।।

उपर्युक्त कथन में कबीर दोनों धर्मों को फटकार लगाते है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि कबीर ईश्वर को नहीं मानते, वे परमात्मा की सत्ता ब्रह्म ज्ञान के रूप में देखते हैं –

कहत 'कबीर' सुनहु रे लोई। राँम नाँम बिन और न कोई।।

इस प्रकार कबीर परमात्मा की सत्ता को स्थापित करते हुए गुरू को सर्वोच्च स्थान देते हैं। उनका मानना है कि बगैर गुरू के ज्ञान और जीवन की श्रेष्ठता को नहीं पाया जा सकता, वे कहते हैं .

पीछे लगा जाई था, लोक वेद के साधि।
आगे थै सत्गुरू मिल्या, दीपक दीया हाथि।।

उपर्युक्त कथन में जहाँ कबीरदास गुरू को मार्ग अर्थात् जीवन में प्रकाश लाने की बात करते हैं, वहीं दूसरी तरफ वे ईश्वर से श्रेष्ठ गुरू को बताते हुए कहते हैं –

गुरू गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरू आपनो, गोविन्द दियों बताय।।

कबीरदास संसार में माया का मानव पर अधिक प्रभाव बताते हैं। वे जड़–चेतन पदार्थों में आभास को मानव मन का ढ़ोंग (प्रपंच) कहते हैं –

मन माया तो एक है, माया नहीं समाय।
तीन लोक संसय परा, काहि कह समझाय।।

इसी प्रकार वे माया को ठगिन बताते हुए कहते हैं –

माया महा ठगिन हम जानी।

कबीरदास पूर्वजन्म के ही कर्मों का फल आगामी जन्म में स्वीकार्य करते हैं, वे लोक से परलोक तक की अंतिम यात्रा में पूर्वजन्म को महत्ता को बड़ी ही सहजता से स्वीकार्य करते है। कर्म के आधार पर श्रेष्ठ जीवन जीने में अधिक विश्वास करते हैं –

पूरब जनम हम बाम्हन होते, ओछे करम तप हीना।
रामदेव की सेवाचूका, पकरि जूलाहा कीना।।

कबीरदास समाज में एक दूसरे के प्रति कम और आशंका के कारण जिस प्रकार सुख–शांति नहीं आ रहा है, इस पर भी वे लोगों को ध्यानाकर्षण कराते हैं–

कुसल कुसल की पूछते कुसल रहा न कोय।
जरा मुई न भय मुआ कुसल कहाँ ते होय।।

कबीरदास जी हिंसा से दूर रहकर जीवन जीने का संदेश देते हैं, वे कहते हैं –

दिनभर रोजा रहत हैं, राति हनत है गाय।
यह तो खून वह बंदगी, कैसे खुसी खुदाय।।

इस प्रकार उपर्युक्त कथन के द्वारा जहाँ हमें रामानन्द के समकालीन तत्कालीन समाज, संस्कृति, धर्म, ज्ञान का दर्शन कबीर के माध्यम से हमारे समाने आता हैं, वहीं दूसरी तरफ रामानन्दी सम्प्रदाय के माध्यम से समाज में जागृति लाने का प्रयास दिखाई देता है। कबीर, रैदास, पीपा, नरहर्यानन्द जैसे अनेक संत, कवियों, चिंतकों ने समाज में एकता का भाव जगाकर स्वयं के मूल्यवान पर जोर दिया जिसकी आज आवश्यकता है। दूसरे के कार्यों की अपेक्षा अपने द्वारा किये गये कार्य को अधिक निकट से देखना जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। जीवन सभी एक समान है, आवश्यकता है उसके अन्दर स्वयं के खोज या एक अच्छे गुरू की जो जीवन को संवारता हुआ समाज, देश के लिए देता है। रामानन्दी के समय की आज भी प्रासंगिकता को रेखांकित होता दिखाई देता है, चाहे वह धर्म, जाति, आडम्बर को तोड़ने के लिए हो अथवा एक अच्छे गुरू और स्वयं परमात्मा का जीवन मानकर दूसरे में उसी का दर्शन कर कल्याण की भावना को जन्म देना हो, आज जिसकी माँग पुनः करता है समय।

सन्दर्भ–सुची :–

1. कृष्णगोपाल – भारत की संत परम्परा और सामाजिक समरता – भोपाल–2015, म.प्र. ग्रन्थ अकादमी।
2. रामस्वरूप चतुर्वेदी – हिन्दी काव्य का इतिहास – लोकभारती, इलाहाबाद।
3. मध्य कालीन काव्य – म.प्र. ग्रन्थ अकादमी।

धर्म और दर्शन की भारतीय अवधारणा

आशुतोष सिंह*

भारतीय संस्कृति की सांगोपांगता व सृजनता का समावेशी दृष्टिकोण धर्म की विराटता व प्रकाशोज्ज्वलता में केन्द्राधीन है। ज्ञातव्य है कि भारत के दार्शनिकों व महान विचारकों ने भारत के सांस्कृतिक व आध्यात्मिक स्वरूप को व्याख्यायित धर्म व दर्शन को सन्दार्भांकित करके ही किया है। धर्म व दर्शन के ज्ञान होने पर ही भारतीय सांस्कृतिक विरासत व परम्पराओं को भली–भांति बौद्धिक रूप से आस्वादित किया जा सकता है। भारत के माननीय उच्चतम न्यायालय का आदर्श वाक्य है– "यतो धर्मस्ततो जयः"[1]

अर्थात जहां धर्म है वहीं विजय है।जो कि भारत की आत्मा को धर्मप्राण बनाता है।वस्तुतः धर्म भारत की परिपूर्णता व दिव्य आध्यात्मिक प्रवाह के साथ परिभाषित करने वाली प्राणवायु है। व्याकरणिक दृष्टि धर्म शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा के 'धृञ' धातु से हुई है।जिसकी व्यंजना "धारण करने" के अर्थ में की जाती है। महाभारत में धर्म शब्द की व्याख्या हेतु निम्न श्लोक उद्धृत है–

"धारणाद्धर्ममित्याहुर्धमर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं सधर्मइतिनिश्चयः।।"[2]

अर्थात धारण करने से इसका नाम धर्म है।धर्म ही प्रजा को धारण करता है।वही निश्चय ही धर्म है। महामुनि कणाद का कथन है–

"यतोभ्युदय निश्श्रेयससिद्धि स धर्मः।"[3]

अर्थात जिससे इस लोक और परलोक दोनों स्थानों पर सुख मिले, वही धर्म है।संसार की सभी मानव व मानवेत्तर जाति के प्रति दया भाव व ममत्वता को धारण करना ही धर्म है।तामस व राजस के स्थान पर सात्विक गुण को धारण करना ही धर्मानुकूल है। भारतीय दर्शन की 'वसुधैव कुटुंबकम्' गर्वानुभूतिजन्य युक्ति गर्विष्ठता से आप्लावित कर देती है।भारत ही विश्व में एक मात्र देश है जो सम्पूर्ण चराचर को अपना परिवार मानता है।भारत की भौगोलिकता को समझने के लिए हमें प्राचीन ग्रन्थ की एक उक्ति स्मृतिशेष होनी चाहिए–

"उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रष्चैव दक्षिणम्।
वर्श तट भारत नाम भारती यत्र सन्तति।।"[4]

अर्थात ऐसा भूखण्ड जो समुद्र के उत्तर तथा हिमालय से दक्षिण में स्थित है वही भारत वर्ष है और वहीं चक्रवर्ती भरत की सन्तति निवास करती है।भारत के इस प्राचीन ग्रन्थ के यह उद्घोष से स्पष्ट होता है कि सनातन भारत की भौगोलिकता वास्तव में अद्वितीय है चूंकि दोनों तरफ सागर रूपी सनातनी उदारता और हिमालय रूपी सनातनी दृढ़ता के मध्य स्थित भारत के भूभाग में अनेकों नदियां, झीलें प्रवाहित होती हैं।जो इस तथ्य की पुष्टि करती हैं भारत के स्वरूप को विधाता ने कितना अतुलनीय व अद्वितीय बनाया है।ऐसे दिव्य भारत में विभिन्न वेदों पुराणों व अन्य धार्मिक ग्रन्थों की उक्तियों के माध्यम से धर्म को परिभाषित करने का प्रयत्न किया गया है। रामायण में प्रसंग आता है कि नर लीला करते हुए जब भगवान राम को अपनी सुरक्षा के विषय में सन्देह होता है तब उन्हें धर्म द्वारा ही रक्षा होने की बात बताई जाती है–

"यं पालयसि धर्मं त्वं प्रीत्या च नियमेन च।
स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु।।"[5]

अर्थात हे राघव!तुम्हारी सुरक्षा के लिए मैं क्या करूं?निश्चित रुप से केवल धर्म ही तुम्हारी रक्षा करेगा।तुम जिस धर्म का धैर्य और नियम के साथ पावन करते आए हो, वही धर्म तुम्हारी रक्षा करेगा। वास्तविकता की धरा पर इस समस्त विश्व की प्रतिष्ठा स्थिति धर्म से ही है–

***विद्यार्थी–हिन्दी, किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।**

"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।
धर्मेण पापमपनुदन्ति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठतम् तस्मादद्धर्मं परमं वदन्ति।।"[6]

भारतीय प्राचीन ग्रन्थानुसार धर्म ही सम्पूर्ण विश्व की प्रतिष्ठित एवं स्थिर करने वाला है। धर्मिष्ठ के पास ही प्रजानन जाते हैं। धर्म से ही पाप दूर होता है, धर्म के सबकी प्रतिष्ठा (स्थिरता या सत्ता) है, इसी कारण धर्म को सबसे बड़ा (श्रेष्ठ) कहा गया है। भारतीय दर्शन में धर्म की इसी महिमा को देखते हुए जीवन में इसी अनिवार्यतः स्वतः सिद्ध हो जाती है। हमें धर्म के वास्तविक रूप को समझने का प्रयास करना चाहिए और तदनुसार अपने आचार–व्यवहार में उसका समावेश करना चाहिए। कर्म की पूजा समझकर उसे पूरा करने वाले व्यक्ति का प्रत्येक क्रिया कलाप धर्म सम्मत ही माना जाएगा। इस प्रकार की 'कर्तव्यपरायणता' से युक्त व्यक्ति ही समाज में सम्मानीय और अभिनन्दनीय बनते हैं।उन्हीं की यशगाथा संसार में प्रसिद्ध होती है। भारतीय वैदिक ग्रन्थों के अनुसार भगवान के सभी अवतार धर्म स्थापना और अधर्म का नाश करने के लिए हुए। दुर्गा का अवतार तो विशेषतया असुरता से जूझने के लिए ही हुआ।

"इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।
तदा तदावतीर्याहिं करिष्याम्यारिसंक्षयम्।।"[7]

अर्थात जब जब दानव प्रकृति वाले जो पकड़ कर सृष्टिकार्य में रोड़ा अटकाएंगे, तभी मैं प्रकट होकर उनका नाश करूंगी। भारतीय धर्म और संस्कृति की जननी गायत्री है। उसे ब्रह्मवर्चन भी कहते हैं।उसमे ब्रह्मज्ञान और ब्रह्म दोनों का समावेश है।उन दिनों ही तत्वों की उपासना करने वाला ब्रह्मतेज सम्पन्न हो जाता है।इस तथ्य को शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार कहा गया है–

"तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गायत्री। तैजस्वी ब्रह्मवर्चस्वी भवति।।"[8]

अर्थात गायत्री ही तेज और ब्रह्मवर्चस स्वरूप है। उसका सदैव अनुष्ठान करने से तेजस्वी और ब्रह्मवर्चस्वी बनता है।सत्प्रवृत्तियों का प्रसार एवं प्रतिष्ठापना एवं दुष्प्रवृत्तियों का निष्कासन, विनाश ही धर्म का मूल उद्देश्य है। इस तथ्य को जो समाज जितना ह्दयंगम कर दतनुरूप जीवन शैली में इनका समावेश करेगा, वह उतना ही सशक्त, समुन्नत एवं शालीन बनेगा।यदि वह इस परिवर्तन के लिए तैयार नहीं होता तो उसे भी विज्ञान की टेढ़ी आंख का कापभाजन बनने के लिए तैयार रहना पड़ेगा।आधारविहीन धर्म थोड़ी देर ठहर सकता है, विज्ञान की कठोर तर्कशक्ति के आगे उसका यथार्थ स्वरूप ही टिक पायेगा।

धर्म एक महान तथ्य और जीवन चेतना का यथार्थ विज्ञान है।उसके बाह्याभ्यान्तर दोनों ही स्वरूप व्यक्ति और समाज दोनों के लिए कल्याणकारी होते हैं। ऐसे महान तत्व को दिमागी फितूर नहीं अपितु श्रद्धा के रूप में देखा, परखा और किया जाना चाहिए। प्रसिद्ध विचारक जी०टी०डब्लू पैट्रिक अपनी पुस्तक मे कहा है– "अधिकांश व्यक्ति धर्म का नाम लेते ही मन्दिरों, मस्जिदों, गुरुद्वारों, गिरिजाघरों, प्रार्थनाओं, शास्त्रों आदि का स्मरण करने लगते हैं तथा धार्मिक क्रिया कृत्यों को ही धर्म का स्वरूप मान लेते हैं, जबकि वे धर्म नहीं, मात्र कलेवर हैं, धर्म आस्था की अभिव्यक्ति के माध्यम भर हैं, पर कितने ही व्यक्ति ऐसे भी हो सकते हैं, जिनका विश्वास इन चीजों, बहिरंग उपादानों पर न हो, जबकि वे पूर्णतः धार्मिक हो सकते हैं। उनका आचरण धर्म को, उसमें सन्निहित आदर्शों को स्वयं व्यक्त करता हो।"[9]

भारतीय धर्म, दर्शन एवं अध्यात्म का सारामृत एक शब्द के द्वारा प्रस्तुत करना हो तो वह वेदान्त का ब्रह्म है। ब्रह्म स्वभावतःसच्चिदानन्दस्वरूप, नित्य, शुद्ध, मुक्त, सर्वज्ञ, सर्शक्तिमान एवं अद्वैत–स्वरूप वह परमार्थतत्व है, जो मानव जीवन का परम जिज्ञास्य एवं साध्य है, जिसकी अपरोक्षानुभूति होने पर मानव को कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं रह जाता। इस प्रकार वेदान्त का ब्रह्म तत्व ससीम जीवन की असीम सीमा एवंच जीवन का परम पुरुषार्थ है। ब्रह्म ही मुक्ति, ज्ञान, चरम सत्य एवं जीवन की श्लाघ्य लभ्य है। जैसा कि आगे स्पष्ट किया जाएगा, यों तो ब्रह्म तत्व का उल्लेख ऋग्वेद से ही मिलना आरम्भ हो जाता है, किन्तु इसका प्रमुख आधार–स्थल एवं प्रतिपादक वेदान्त दर्शन ही है। यद्यपि वेदान्त शब्द से शंकर वेदान्त के अतिरिक्त रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, महाप्रभुचैतन्य, जीवगोस्वामी, भास्कर एवं बलदेव विद्याभूषण आदि आचार्यों के द्वारा वैदिक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित

दार्शनिक सिद्धांतों का भी बोध होता है,एवंच इन आचार्यों का दार्शनिक सिद्धान्त भी वेदान्त दर्शन के नाम पर विदित है, किन्तु मुख्य रूप से वेदान्त से शंकर वेदान्त का ही तात्पर्य गृहीत है।

शंकराचार्य द्वारा प्रतिष्ठित अद्वैत सिद्धान्त ऐसा विशाल, उदार एवं समन्वयपूर्ण सिद्धान्त है इस विलक्षण सिद्धान्त में वैष्णवों, शैवों, शाक्तों, मीमांसकों, विशिष्टाद्वैतवादियों, द्वैतवादियों, वैदिकों, तान्त्रिकों, मान्त्रिकों एवं किसी भी प्रकार की आस्था, धर्म एवं आधार से सम्पन्न विचारधारा के लिए स्थान प्राप्त है। इसीलिए आज शंकराचार्य और अद्वैत वेदान्त जैसे पर्यायवाची हो गये हैं। शंकराचार्य के दर्शन का आधार वेदान्त और उपनिषद् ही था। शंकराचार्य ने भारत में धर्म की एकता के लिए भारत के चारो भागों में चार मठ स्थापित किये। अद्वैतवाद दर्शन में पारमार्थिक स्तर पर सिर्फ एक ही सत्ता को स्वीकार्य माना गया है। आत्मा और ब्रह्म एक ही है। संसार में आमाओं में वैविध्य प्रतीत अवश्य होता है परन्तु वह वास्तविक नहीं है। शंकराचार्य ने व्यावहारिक स्तर पर तीन सत्ताएं मानी ईश्वर, जीव तथा जगत।ईश्वर ब्रह्म का ही सगुण स्वरूप है, जीव ब्रह्म का प्रतिबिंब है जो सांसारिक शरीर से युक्त होने के कारण अपने मूल स्वरूप को विस्मृत्याभिभूत हो गया है। जगत ब्रह्म का आभास मात्र है। जीव को मोक्ष मार्ग ज्ञान द्वारा प्राप्त होता है। शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन का प्रभाव भक्तिकाल के कवियों पर प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है–

"निरगुण राम जपहुं रे भाई। अवगति की गति लखी न जाई।।
चारि वेद जाके सुमृत पुरांना। नौ व्याकरणां मरण ना जाना।।" [10]

अर्थात् कबीर दास जी निर्गुण राम नाम जपने को कहते हैं। उनके वह निर्गुण राम जीवों के अंतःकरण में वास करते हैं यथा देखिए – कस्तूरी कुंडली मृग बसे, मृग फिरे वन माहि। ऐसे घट घट राम है, दुनिया जानत नाही।।

शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन का भक्ति पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा।भक्ति के लिए भक्त और आराध्य में भेद करना आवश्यक है।इसी कारण दक्षिण में चार नये मतों का भी उदय हुआ।जिनमें से प्रमुख है "विशिष्टाद्वैत दर्शन"।इसका प्रवर्तन श्रीरामानुजाचार्य ने किया।जबकि रामानुजाचार्य श्री सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते थे। इनके द्वारा प्रतिपादित दर्शन शंकर के अद्वैतवाद के विरूद्ध ठोस प्रक्रिया थी। रामानुजाचार्य ने अन्तिम सत्ता को एक मानते हुए इसके भीतर द्वैत की स्थापना की, इसीलिए इसे विशिष्टाद्वैत कहा जाता है। रामानुज ने ईश्वर और ब्रह्म में कोई भेद नहीं माना प्रत्युत सत्, चित्त और आनन्द उसके गुण प्रमुख गुण मानें। सांसारिक व कलिकाल की परेशानियों को दूर करने लिए ईश्वर मृत्युलोक में अवतरित होते हैं।'तत्वमसि' सूत्र का अर्थ भी उन्होंने सगुणोपासना के दास्य भाव के आधार पर 'तत्=उनका, त्वं=तू, असि=सेवक है' ऐसा किया है।उन्होंने जीव और ब्रह्म का शेष–शेषी अन्तर्सम्बन्ध स्थापित किया है।इन्होंने ही सर्वप्रथम अवतारवाद तथा धर्म की सामाजिक भूमिका की प्रस्तावना की।इनका प्रत्यक्ष प्रभाव हमें भक्तिकाल में रामभक्ति शाखा के महाकवि गोस्वामी तुलसीदास कृत श्रीरामचरितमानस में दिग्दर्शनार्थ है–

"सियाराममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी।।"[11]

अर्थात पूरे संसार में श्री राम का निवास है, सबमें भगवान हैं और हमें उनको हाथ जोड़कर प्रणाम कर लेना चाहिए। उपरोक्त विषय पर हिंदी साहित्य के विद्वाध आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कहा है "जगत को केवल राममय न कहकर उन्होंने 'सियारामय' कहा है। सीता प्रकृतिस्वरूपा है और राम ब्रह्म हैं। प्रकृति अचित पक्ष है और ब्रह्म चित पक्ष है। अतः परमार्थिक सत्ता चिद्चिद्विशिष्ट है, यह स्पष्ट झलकता है। चित और अचित वस्तुतः एक ही है। "[12]

इसके बाद शंकर के अद्वैतवाद का विरोध मध्वाचार्य ने अपने दार्शनिक मत द्वैतवाद से किया। इनके मत में जीव को स्वभावतः अल्पशक्ति और अल्पज्ञान सम्पन्न माना गया है। अल्पज्ञ जीव परमपिता विष्णु के अधीन रह कर ही कार्य करता है। जीवों में तारतम्य रहता है। अपने वास्तविक सुख की अनुभूति ही मुक्ति है। मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन अमला भक्ति है। मध्वाचार्य ने ईश्वर को ही उत्पत्ति, स्थिति व संहार का कारण माना। तत्पश्चात निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैतवाद दर्शन आया जिसमें जीव को ब्रह्म का अंश व ब्रह्म को अंशी माना गया। इन्होंने भी भक्ति को ही मुक्ति का साधन मान। इस मत ने राधा व कृष्ण की युगलोपासना पर बल दिया। इसका प्रभाव हमें उत्तर भक्तिकाल के कवियों पर स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है–

"मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाईं परै, स्याम हरति दुति होइ।।"[13]

अर्थात हे राधिका जी मेरे सांसारिक कष्टों को दूर करें, जिनके पीली आभा वाले (गोरे) शरीर की झाँई यानि (प्रतिबिम्ब) पड़ने से श्याम वर्ण के श्रीकृष्ण हरित वर्ण की द्युति वाले; अर्थात् हरे रंग के हो जाते हैं। अर्थात् राधा के प्रभाव पड़ने से सांवले कृष्ण भी हरे रंग के हो जाते हैं। यहां पर हरे का मतलब खुश रहने से भी किया जा सकता है।

अन्त में बल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत दर्शन आया जिसमें ब्रह्म की तुलना स्वर्ण से की गयी। जिस प्रकार स्वर्ण अनेक रूपों में परिवर्तित हो जाने पश्चात भी शुद्ध स्वर्ण ही रहता है, इसी प्रकार ब्रह्म भी शुद्ध है। इनके मतानुसार ब्रह्म अपनी संधिनी शक्ति द्वारा सत् का, संवित् शक्ति द्वार चित् का, आह्लादिनी शक्ति द्वारा आनन्द का आविर्भाव करता है। जीव सत्य और नित्य है। उसकी उत्पत्ति नहीं होती है। इन्होंने तीन प्रकार के जीवों का वर्णन अपने दर्शन के माध्यम से किया है शुद्ध जीव, संसारी जीव व मुक्त जीव। जड़ जगत ना तो उत्पन्न होता है और ना ही नष्ट होता है प्रत्युत उसका आविर्भाव व तिरोभाव होता है। इन्होने ही पुष्टिमार्गी भक्ति को आधार प्रदान किया। जिसमें भक्त स्वयं को अपने आराध्य के समक्ष व उनके अनुग्रह पर छोड़ देता है। भक्तिकाल के कवि सूरदास ने शुद्धाद्वैत के भवन का अपने सख्य व विनय के पदों की आधारशिला पर निर्माण किया। वो अपने ग्रन्थ सूरसागर में कहते हैं–

"हम तौ नंद–घोष के बासी।
नाम गुपाल जाति कुल गोपक, गोप गुपाल उपासी।।
गिरवर धारी गोधन चारी, बृंदावन अभिलाषी।
राजा नंद जसोदा रानी, सजल नदी जमुना सी।।
मीत हमारे परम मनोहर, कमलनैन सुख रासी।
सूरदास–प्रभु कहौं कहाँ लौं,अष्ट महा–सिधि दासी।।"[14]

अर्थात हे उपंगसुत! हम तो नन्दगांव की रहने वाली हैं। हमारा नाम भी गोपाल है। हमारी जाति व कुल भी गोपों की है। हम तो गिरधारी गायें चराने वाले गोप–गोपाल की उपासिका हैं तथा वृन्दावन से ही प्रेम करती हैं। हमारे राजा नन्द व रानी यशोदा हैं। हमारे लिए यमुना ही सागर है। सुख के मण्डार कमलनयन परम मनोहर कृष्ण ही हमारे प्रिय हैं। गोपियों ने कृष्ण की मैत्रीय भाव आराधना व वन्दना की। उनके लिए कृष्ण आराध्य व सखा समान भाव से हैं। वो कृष्ण की भक्ति में स्वयं को आत्माभिमुख व आत्माभिभूत करती हैं कि कृष्ण को भी अपने ब्रज लीलाओं की स्मृति ओझलता को प्राप्त नहीं होती। अन्ततः यह कहा जा सकता है कि उपरोक्त सभी भारतीय आस्तिक दर्शनों में भक्ति, कथा प्रवचन व सत्संग ही मुक्ति का साधन है। इसीलिए कहा गया है। "अध्यात्म दर्शन पढ़ने, समझने या समझाने की दृष्टि से कथा प्रवचन या वाचन, सत्संग जैसे स्वरूप में प्रतिपादित होता रहता है, पर वह सड़क की ओर अंगुलि निर्देशन जैसा है। इतने भर से काम नहीं बनता। रास्ता तो चलने से पार होता है। चलने और पार होने का तात्पर्य है, अपनी अन्तः भूमिका में उन मान्यताओं का गहरा प्रवेश, जो मनुष्य को सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाने के लिए गढ़ी गई है।"[15]

दूसरी श्रृंखला भारतीय नास्तिक दर्शनों की भी है जो कि ईश्वर व अलौकिक सत्ता के किसी भी प्रकार के बन्धनों को मानने हेतु असहज व अस्वीकृति का उद्घोष है। जिनमें से प्रमुख हैं जैन, बौद्ध व चार्वाक दर्शन। जैन दर्शन में अहिंसा को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। जैन धर्म की मान्यता अनुसार, 24 तीर्थंकर संसार चक्र में फंसे जीवों के कल्याण हेतु उपदेश देने के लिए, समय–समय पर इस धरती पर आते रहे है। जैन तीर्थंकरों में से कुछ के नाम ऋग्वेद में भी मिलते हैं, जिससे इनकी प्राचीनता प्रमाणित होती है। लगभग छठी शताब्दी ई० पू० में अंतिम तीर्थंकर, भगवान महावीर के द्वारा जैन दर्शन का पुनराव्रण हुआ। अंतिम जैन तीर्थंकर महवीर ने अपने शिष्यों को अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करने), ब्रह्मचर्य (शुद्धता) और अपरिग्रह (गैर– लगाव) की शिक्षा दी, और उनकी शिक्षाओं को जैन आगम कहा गया। जैन दर्शन के अनुसार जीव और कर्मो का सम्बन्ध अनादि काल से मौजूद है। जब जीव इन कर्मो को अपनी आत्मा से सम्पूर्ण रूप से मुक्त कर देता है तो वह स्वयं भगवान बन जाता है।

बौद्ध दर्शन की जन्मभूमि भारत है, यह बात दूसरी है कि उसका विकास भारत की अपेक्षा, बर्मा, श्याम, जावा, तिब्बत, चीन, कोरिया, मंगोलिया और जापान में अधिक हुआ है। प्रारंभ में यह मत भी एक धर्म के रूप में विकसित हुआ था। शाक्य गणाधिपति शुद्धोधन के पुत्र सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध, 567–487 ई. पू.) इसके प्रतिपादक थे। सिद्धार्थ जन्म से ही आभायुक्त थे। ऐसा उल्लेख मिलता है कि सिद्धार्थ वृद्ध, रोगी और मृतक को देखने से मनुष्यों के दुखों से पीड़ित हो उठे थे और एक दिन राज्य, परिवार, पत्नी और पुत्रा सभी को त्यागकर चल दिए थे। सबसे पहले वे भृगु आश्रम पहुँचे। उसके बाद आलार कालाम के पास गए और यहाँ से गया पहुँचकर तपस्या में लीन हो गए। यहाँ उन्हें चार आर्य सत्यों का ज्ञान हुआ, वे सिद्धार्थ से बुद्ध बन गए।बौद्ध दर्शन में ज्ञान के स्वरूप और उसे प्राप्त करने के उपायों के संबंध में भी बड़ा मतभेद है। वैभाषिक और सौत्रांतिक दोनों बाह्य जगत की सत्ता स्वीकार करते हैं, यह बात दूसरी है कि वैभाषिक उसे चित्त निरपेक्ष मानते हैं और सौत्रांतिक चित्त सापेक्ष। पदार्थों के धर्मो एवं चित्त की क्रियाओं के ज्ञान को ये वास्तविक ज्ञान मानते हैं। वैभाषिकों के अनुसार ज्ञान प्राप्त करने के दो साधन हैं–ग्रहण और अध्यवसाय। ग्रहण का अर्थ है इंद्रियों द्वारा प्रत्यक्ष करना, इसके द्वारा पदार्थ के सामान्य रूप का ज्ञान होता है। पदार्थ को नाम एवं जाति आदि कल्पना से संयुक्त करना अध्यवसाय है। सौत्रांतिक इंद्रिय प्रत्यक्ष के आधार पर चित्त द्वारा अनुमान करने की क्रिया पर बल देते हैं। योगाचार और माध्यमिक जगत की स्वतंत्र सत्ता नहीं मानते, वे उसकी केवल व्यावहारिक सत्ता मानते हैं। योगाचार उसके मूल में विज्ञान और माध्यमिक शून्य के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और उसको प्राप्त करने के लिए योग की क्रियाओं पर बल देते हैं।

चार्वाक अर्थात लोकायत दर्शन भौतिकवादी नास्तिक विचारधारा है। इसके सिद्धान्त व मान्यताएं जन सामान्य में बहुत लोक प्रिय रही हैं। चार्वाक का व्याकरणिक दृष्टि से विच्छेदत्व "चारु+वाक" है। जिसे मीठे बोल के अर्थ में समझा जाता है। इसके प्रणेता चार्वाक या ब्रहस्पति माने गये हैं। चार्वाक दर्शनानुसार जो प्रत्यक्ष है वही प्रामाणिक है। बाकी सब मिथ्या है। चार्वाक के अतिरिक्त अन्य दर्शन अनुमान से भी सिद्धान्तों की कल्पनात्मक स्थापना करते हैं प्रत्युत चार्वाक अनुमान को अटकलों की हार मानता है। वह अनुमान व भविष्य की कल्पनाओं को तात्विक ज्ञान का आधार नहीं मानता है।

भारतीय धर्म और दर्शन के विविध स्वरूप हमें दृष्टिपात होते हैं प्रत्युत बहुसंख्यतः सभी भक्ति व आन्तरिक साधना को ही मोक्ष व भगवतप्राप्ति का एक मात्र आधार मानते हैं। भारत की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर विभिन्न मत–मतांतरों का आविर्भाव व तिरोभाव होता रहा है लेकिन आर्यावर्त की मूल दार्शनिक पीठिका का स्वरूप युगे – युगे प्रकाशोज्ज्वलायमान होता रहा है। भारतीय दर्शन ने भारतीय संस्कृति व आध्यात्मिक विरासत को समझने की विश्व को एक नयी दृष्टि प्रदान की है। भारत धार्मिक व दार्शिनक पृष्ठभूमि से इतना सम्पुष्ट व समुन्नत है कि वो सदैव जगत को विश्वगुरु के रूप में दिशा व चेतना प्रदान करता रहा है और भविष्य में भी करता रहेगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचीः–

1. वेदव्यास, महाभारत, अश्वमेघ पर्व व द्रौण पर्व
2. वेदव्यास, महाभारत
3. महर्षि कणाद, वैशेषिक दर्शन
4. वेदव्यास, श्री विष्णुपुराण
5. महर्षि बाल्मीकि, रामायण
6. श्रीनारायणोपनिषद्
7. श्रीदुर्गासप्तसती
8. शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ
9. जी०टी०डब्लू पैट्रिक, इन्ट्रोडक्शन टू फिलोसॉफी
10. श्यामसुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली(सं)
11. गोस्वामी तुलसीदास, श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड
12. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास (1929)
13. पं०जगन्नाथदास रत्नाकर, बिहारी रत्नाकर(सं)
14. सूरसागर, सूरदास(10–3919)
15. पं०श्रीराम शर्मा, धर्म तत्व का दर्शन ओर मर्म (पृ०सं० 27)

ꕥ★ꕥ

लोकगीतों का सामाजिक परिदर्शन

डॉ. सत्यप्रकाश पाल*
डॉ. अमित कुमार सिंह**

लोक संगीत किसी भी संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। लोक–संगीत का जन्म व्यक्ति के नैतिक मूल्यों, सामाजिक–उत्सव, त्यौहारों, रीति–रिवाजों एवं सामूहिक कार्यों द्वारा हुआ है। यह मानव मन की अनुभूतियों की सरल, स्वच्छन्द और सहज अभिव्यक्ति है। यह वस्तुतः जनसामान्य में प्रचलित संगीत है जो परम्परागत रूप से चलता रहता है। लोक संगीत तो गीत का वह प्रकार है जिसको किसी व्यक्ति से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता, वह लोकमानस से तादात्म्य रखता है और ऐसी व्यक्तिहीन रचना करता है कि समस्त लोक का व्यक्तित्व उसमें उभरता है और लोक उसे अपनी चीज़ कहने लगता है। वह परम्परा में आ जाता है। समय–समय पर उसमें अनुकूल परिवर्तन होते रहते हैं। उसका दावेदार कोई एक आदमी नहीं होता। लोक संगीत 'लोक तथा संगीत' दो शब्दों के संयोग से बना है, जिसका अर्थ है– लोक के गीत या लोगों में प्रचलित गीत।'' लोक का अर्थ है जगह, स्थान या क्षेत्र। कुछ विद्वानों ने विशिष्ट भू–भाग पर निवास करने वाले जनसमूह को लोक सम्बोधित किया है। ऋग्वेद में लोक का अर्थ 'भुवन' और 'स्थान' है।''[1] 'अथर्ववेद में भी 'लोक' शब्द का प्रयोग मिलता है। इस शब्द के कोशगत अनेक अर्थ हैं– संसार, दुनिया, तीन लोक, जनता, सांसारिक व्यवहार, प्रजा, प्रान्त, भू–भाग, दृष्टि एवं यश आदि।''[2] भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के अनुसार जो संगीत देश काल और जाति आदि के आधार पर स्वयं बनता है, फलता–फूलता है, वह लोक संगीत है। लोक संगीत किसी प्रकार के बन्धन को स्वीकार नहीं करता। यह पूर्ण रूप स्वान्तः सुखाय होता है। जो लोक के द्वारा है, लोक के लिये है और लोक का रंजन करता है, वह लोक संगीत है। लोकमानस की अभिव्यक्तियाँ अनेक रूपों में होती है। बोली या भाषा के माध्यम से, अभिनय या आंगिक क्रियाओं के द्वारा, नृत्य के माध्यम से, कूची और रंग के द्वारा और संगीत के माध्यम से इन अभिव्यक्ति–रूपों को देखा समझा जा सकता है। मानव के द्वारा किये गए अगणित, आविष्कारों में शब्द का आविष्कार सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। शब्द न होता तो पदार्थों, विज्ञानों, सम्बन्धों, शक्तियों आदि को नाम कहाँ से मिलते? संस्कृति और सभ्यता के सारे रचना–तत्व शब्दाश्रित है। भाषिक अभिव्यक्ति के रूपों को लोक वार्ता अपने में समेट लेती है, फिर भी कुछ रूपों का अध्ययन अलग से किया जाता है।

''लोक वार्ता अंग्रेजी के 'फोक लोर' का हिन्दी अनुवाद है। फोक लोर के बारे में पियर्स साइक्लोपीडिया की परिभाषा है– 'फोक लोर कन्सर्न्स इट सेल्फ विद दि मेंन्टल एण्ड स्प्रिचुअल लाइफ ऑफ दि पीपल–बोथ सिविलाइज्ड एण्ड प्रिमिटिव–एज़ एक्सप्रेस्ड इन दि ट्रेडीशनल बिलीफ्स, कस्टम्स, इंस्टीट्यूशन्स एण्ड सेइंग्स दैट हैव बीन हैन्डेड डाउन फ्रॉम जेनरेशन बाय वर्ड ऑफ माउथ... अर्थात् लोक वार्ता का सम्बन्ध लोगों के दोनों सभ्य और आदिममानसिक और आध्यात्मिक जीवन से है, जैसा वह मौखिक परम्परा में पीढ़ी–दर–पीढ़ी पराम्परागत विश्वासों, प्रथाओं, संस्थाओं और कहावतों में अभिव्यक्त होता है।''[3] साहित्यकारों ने लोकगीत का उद्‌गम लोकसाहित्य स्वीकार किया है। इसकी पुष्टि करते हुवे वे कहते हैं कि लोक साहित्य लोक संस्कृति का एक अंग हैं। जनसाधारण के समस्त जीवन का दर्शन जिस साहित्य में होता है, वह लोक साहित्य है तथा लोकगीत लोकसाहित्य के अन्तर्गत आनेवाली अन्य विधाओं में एक है। साहित्यकारों ने लोकगीत की परिभाषा लोक से दृष्टिगोचर हुई विशिष्टताओं के अनुसार की है। कुछ परिभाषाएं निम्नानुसार है। डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में ''लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है, जिसमें भूत, भविष्य और वर्तमान संचित है। अर्वाचीन मानव के लिये लोक सर्वोच्च प्रजापति है।''[4] डॉ0 हजारीप्रसाद द्विवेदी ने '''लोक' शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम से न लेकर नगरों व गाँवों में फैल उस समूची जनता से लिया है जो परिष्कृत, रुचि संपन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम

***असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।**
****वाद्य विभाग संगीत एवं मंचकला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।**

जीवन की अभ्यस्त होती है।''[5] डॉ0 कुंज बिहारी दास ने लोकगीतों की परिभाषा देते हुए कहा है, ''लोकसंगीत उन लोगों के जीवन की अनायास प्रवाहात्मक अभिव्यक्ति है, जो सुसंस्कृत तथा सुसभ्य प्रभावों से बाहर कम या अधिक आदिम अवस्था में निवास करते हैं। यह साहित्य प्रायः मौखिक होता है और परम्परागत रूप से चला आ रहा है।''[6] लोकगीतों को मात्र ग्रामगीत कहकर उनकी व्यापकता को कम नहीं किया जा सकता। ये गीत अब गाँव की चाहरदीवारी को छोड़ नगरों और महानगरों की सीमा को छू रहे है। हिन्दी साहित्य कोश में 'लोकगीत' शब्द के तीन अर्थ मिलते है–

1. लोक में प्रचलित गीत, 2. लोकनिर्मित गीत तथा, 3. लोकविषयक गीत।

वास्तव में लोकगीत का तात्पर्य लोक में प्रचलित गीत ही है, जिसे दो अर्थ दिये जा सकते है– 1. अवसरविशेष के प्रचलित गीत तथा, 2. परम्परागत गीत।

लोकगीतों का स्वरूप उसकी परिभाषा से ही ज्ञात होता है। कारण परिभाषा में ही उसके आवश्यक तत्व विद्यमान रहते है। वैसे लोकगीत का स्वरूप इतना विशाल है कि उसका विस्तृत विवेचन करना आज भी असंभव है। मनुष्य की मूल भावनाएँ लगभग समान होती है। फिर वह व्यक्ति किसी जाति, ग्राम, प्रदेश या देश का निवासी हो। मनुष्य की भाषा, रीति–रिवाज, आचार–विचारों के साथ उसकी सांस्कृतिक गतिविधियों में अन्तर आना स्वाभाविक है किन्तु उसके जीवन में सुख–दुःख हँसना–रोना, यश–अपयश, जन्म–मृत्यु आदि घटनाएँ होती ही रहती है।

लोकगीत का एक विशेष सामाजिक रूप है। यह हमारे सामाजिक सम्बन्धों का संगीतमय इतिहास है। इस इतिहास में हमारी पीढ़ियों के मानवीय सम्बन्ध, रीति–रिवाज, विश्वास व धारणाएँ, जीवन के मार्मिक अनुभव, प्रेम की मधुर कल्पना और समाज को एकसूत्र में पिरोने की लालसा का भावनात्मक प्रतिफलन रहता है। इसीलिए लोक संगीत के समाजशास्त्र में इसके विभिन्न रूपों के सामाजिक ऐतिहासिक अस्तित्व का विवेचन होना चाहिए, इसकी अन्तर्वस्तु के सामाजिक अभिप्रायों की खोज होनी चाहिए। लोकगीतों की रचना निजत्व के लिये न होकर समूह के लिये है इसका सम्बन्ध जीवन के विविध अंग से जुड़ा हुआ है। अब यहाँ लोकसंगीत के सामाजिक रूप–पक्ष पर विचार किया जा सकता है। जैसे संस्कार गीत, धार्मिक गीत, जाति गीत, ऋतु गीत, श्रम गीत आदि।

संस्कार गीत :– संस्कार मुख्य रूप से मानव – जीवन के विकास को दर्शाते है जो व्यक्ति और समाज के मध्य सन्तुलन बनाए रखने में सक्षम है। संस्कारों का महत्व वैयक्तिक दृष्टि से तो स्पष्ट है ही लेकिन सामाजिक दृष्टि से भी संस्कार हमारे लिए महत्वपूर्ण है। संस्कार कई प्रकार के होते है। वेदों में केवल तीन संस्कारों–गर्भाधान, विवाह तथा मृत्यु संस्कार का उल्लेख है। इस प्रकार संस्कारों की संख्या के विषय में प्राचीन ग्रन्थों में पूर्ण विवाद रहा है। अन्त में सोलह संस्कार माने गये है। संस्कार व्यक्ति के जीवन को परिष्कृत करते है, इससे उसका मनोबल बढ़ता है और शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक सभी दृष्टि से उसका व्यक्तित्व विकसित होता है। संस्कार व्यक्ति के सामाजिकरण में सहायक है। संस्कारों द्वारा व्यक्ति सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को अनुकूलित कर लेता है और अपने जीवन को संगठित बनाने में महत्वपूर्ण कार्य करता है। जैसे– उपनयन से विवाह तक सारे संस्कार सामाजिक दृष्टि से महत्व रखते हैं जो हमारी संस्कृति को भी दर्शाते है। इस प्रकार सभी संस्कार सामाजिक और सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टिकोण से व्यक्ति के नैतिक गुणों के विकास करने में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। हमारी लोक परम्परा में सोलह संस्कार माने जाते हैं। प्राचीन काल में सभी संस्कार मनाये जाते थे और उनके लोक गीत भी गाए जाते थे। समय के परिवर्तन और जीवन की परिस्थितियों की जटिलता के कारण मनाने वाले संस्कारों की संख्या कम होती गई और आज केवल दो प्रमुख संस्कार है जिन्हें लोग मनाते है। वे है जन्म और विवाह, गर्भाधान, सीमंतोनयन, पुंसवन, नामकरण, मुण्डन, विद्यारम्भ जैसे संस्कार जन्मोत्सव में समाहित कर लिए गए हैं और यज्ञोपवीत आदि विवाह के साथ जोड़ दिए गए है। उदाहरण के लिए यहाँ पुत्र जन्म के अवसर पर गाये जाने वाला एक गीत प्रस्तुत है– पुत्र को लोक संस्कृति में नन्दलाल या राम लला कहा जाता है। नवजात के प्रति माँ की ममता बहेली संस्कार गीत के इस सोहर में व्यक्त हुई है–

भुंइया पड़े हई नन्दलाल
भुंइया पड़े कि सुख सोभह,

कि नन्दलाल भुंइया पड़ हई।।1।।
जाई कहौ मोरे बारे ससुर से
जलदी चमाइन को लामई/कि नन्दलाल......... हई।
जाह कहौ मोरे बारे जेठर से
जलदी खटोलना माँगा मई/कि नन्दलाल...... हई।/
जाइ कहौ मोरे बारे देवर से
जलदी से तुपक चलामई/कि नन्दलाल...... हई।/
जाइ कहौ मोरे बारे बलम से
जलदी से पटना लुटामई,/ कि नन्दलाल...... हई।/''[7]

नन्दलाल धरती पर पड़े हैं, कि सुख से सो रहे है। ससुरजी से कहो कि नाल काटन वाली को ले आवें, जेठ जी से कहो कि खटोला जल्दी मँगावें, देवर जी से कहो कि बन्दूक चलावें और मेरे पति से कहो कि खूब छक कर धन और वस्तुयें लुटातें अर्थात् खर्च करें। गीतों के प्रयोग से संस्कारों की शोभा गुणात्मक होती है। निश्चय ही गीतों के सहयोग से इनमें चिर नूतनता आ जाती है, परन्तु गीतों के साहचर्य से इन संस्कारों में आकर्षण का अभाव आज तक देखने को नहीं मिला। ये संस्कार आज तक चिर प्रेरणा प्रदान करने वाले बने हुए है तथा गीतों के समवाय से इनका उल्लास चिर शाश्वत् बन गया है।

धार्मिक गीत :– भारतीय मनीषियों ने समाज की रचना का मूल आधार धर्म माना है। मनुष्य का समस्त क्रिया–कलाप धर्म से जुड़ा हुआ है, अतः धर्म लोक जीवन का प्राण है। मानव हृदय में धर्म की व्याप्ति कौन से युग से हुई यह बताना असंभव ही है। किन्तु वैदिक काल के पूर्व भी धर्म को मान्यता थी, तथा धरातल पर अवतरित हुवे पेड़–पौधे, नदी, पर्वत आदि की उपासना मानव प्रारम्भ से ही करता था। धार्मिक लोक गीतों में भाग्यवाद तथा कर्मवाद का उल्लेख स्थान–स्थान पर मिलता है। कभी–कभी तो कर्म और भाग्य दोनों शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हो जाते है। हिन्दू समाज में कर्मवाद का सिद्धान्त अपना प्रबल प्रभुत्व जमाये हुए है। साधारण जनता का इस कर्म में अटल विश्वास है कि जो जैसा करता है वैसा फल पाता है– 'कर्म प्रधान विश्व करि राखा'। तुलसीदास जी की इस चौपाई की प्रतिध्वनि हमें लोकगीतों में मिलती है।

किसी भी देश की सजीवता, समृद्धि और उसके जीवन का ठीक–ठीक अनुमान उसके त्यौहारों और उत्सवों से ही लगाया जाता है। जो देश जितना अधिक उत्सव–प्रिय होगा, उतना ही अधिक सुखी और समृद्ध होगा। भारत वर्ष सदा से अपने उत्सव और त्यौहारों–मेलो के लिये प्रसिद्ध रहा है। यही उत्सव प्रियता उसके पूर्व गौरव को सूचित करती है। उत्सव को अधिक रोचक और सफल बनाने में लोकगीतों का विशेष योगदान है। इन धार्मिक गीतों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है, जो इस प्रकार है–

1. देवी–देवताओं से संबंधित लोकगीत
2. व्रत–त्यौहार संबंधी तथा दैनिक क्रम के गीत
3. जोगियों के गीत

देवी–देवताओं से संबंधित लोकगीतों में अनेक देवताओं की उपासना का उल्लेख मिलता है। राम, कृष्ण, शिव, देवी, माता आदि के गीत लोक संस्कृति में दृष्टिगोचर होते है। प्रत्येक हिन्दू के घर में तथा मन्दिर के मुखद्वार पर गणेश जी की प्रतिमा अवश्य रहती है। कोई भी कार्य आरंभ करते समय गणेश–स्तुति की जाती है जो इस प्रकार है–

सिमरूँ गौरी पुत्र गनेस
नाम लिये से संकट सब भागै –

तथा इसी प्रकार –

सिमरत कटैं है कलेस
माता तुम्हारी पारवती पिता तुम्हारे महेस
धूपदीप पकवान मिठाई भोग लगाऊँ हमेस
सिमरूँ गोरी पुत्र गनेस।''[8]

व्रत त्यौहार कुछ इस प्रकार के भी होते है जिनकी अवधि एक दिन न होकर सम्पूर्ण मास तक होती है, उदाहरण के लिए कार्तिक, माघ, वैसाख मास तथा पुरुषोत्तम मास जिसे 'मलमास' भी कहते है। इन सब महीनों में विशेष प्रकार का यम, नियम, स्नान, पूजन, खान–पान का विधान है। लोक मान्यताओं में गंगास्नान आदि के अतिरिक्त वनस्पति पूजने का बहुत महत्व है। इनमें पीपल तथा तुलसी का विशेष महत्व है। कार्तिक मास में तो तुलसी पूजन जो पूरे महीने तुलसी के पौधे पर दीपक चढ़ाते है और आरती करते है तथा देव–उठानी एकादशी को तुलसी विवाह भी करते है। तुलसी पूजन के अवसर पर स्त्रियाँ दोहा तथा आरती गाया करती है।

जोगियों और भिखारियों के गीत लोक साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग है। इनके द्वारा लोक को सदा ही उद्‌बोधन प्राप्त होता रहा है। मुसलमान भिखारी साई कहलाते है और हिन्दू भिखारी जोगी। भिखारियों के गीतों का वर्ण्य–विषय साधारणतः चेतावनी सम्बन्धी होता है कि किस प्रकार माया–मोह से लिप्त जीव को संसार की नश्वरता का उपदेश देना चाहिए। इसमें काया–माया की अस्थिरता का तथा सांसारिक सम्बन्धों की व्यर्थता का कथन होता है। जोगी प्रायः वैराग्य सम्बन्धी भजन गाते है। जोगी की वेशभूषा, गाने की शब्दावली तथा लय सभी से श्रोता के सम्मुख एक विशेष प्रकार का वातावरण उपस्थित हो जाता है। जोगियों के पदों को हम निर्गुण पदों में रख सकते है। यह दया–धर्म प्रेरक होते है और प्राचीन सत्पुरुषों की जीवन–गाथा तथा हरिश्चन्द्र, ध्रुव, प्रह्लाद आदि की लोक गाथाएँ भी सुनाते हैं। वर्तमान में जो व्रत विधान, पर्व त्यौहार आदि सम्पन्न किये जाते है इसका कारण मनोकामना की सिद्धि है। इन मंगल प्रसंगों पर गीत गायन की प्रथा रही है। लोक गीत ही ऐसा संगीत है जो भावनाओं को सरलता से अभिव्यक्त करते हुए समस्त जनमानस के सरस ध्वनि से वातावरण को गुंजित कर सकता है।

जाति गीत :– जाति का अर्थ है ऐसा समाज जिसे उसकी वैशिष्टता के कारण एक विशेष रूप प्राप्त हुआ है। जाति में वर्ग का महत्व होता है, जो जाति को व्यक्त करता है। प्रत्येक जाति के अपने विशेष गुण धर्म होते हैं उनके रीति–रिवाज, आचार–विचार होते हैं, एवं उसी विशिष्टता को कायम रखने का भरसक प्रयत्न जाति या समाज के सदस्य करते है। वैसे मानव हृदय में प्रेम त्याग आदि भावस्थितियों का निवास होता है किन्तु प्रत्येक जाति का अपना स्तर होता है। इसी कारण आर्यों ने चार वर्णों की स्थापना की थी। धीरे–धीरे जातियों की कई उपजातियाँ बनी जिनमें परस्पर रोटी और बेटी का व्यवहार संर्कीण होता चला गया और संकीर्ण होती हुई जाति–व्यवस्था में जातियों और उपजातियों के दैनिक आचरण में भिन्नता आती गयी, उनके रहन–सहन, रीति–नीति, आचार–व्यवहार में भी बहुत अन्तर आ गया। इतना ही नहीं उनके नृत्य और गीत आदि में भी पृथक–पृथक विशेषताओं का स्पष्टीकरण हुआ। जाति विशेष के गीत अत्यन्त करूण होते है। इन गीतों में वर्तमान में प्रचलित प्रचलन एवं मान्यताओं को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। उदाहरण स्वरूप कुछ जाति गीत प्रस्तुत है–

कहँरौवा

कन्या :– ''कोऊन रगरवा हमसो रे कहँरवा।
काहे बाबा क दुआर छोराई काहें करौ रगरवा।
कँहार : बाबुल के अंगनवा क तु महिमनवा
विधि विधनवा क एही रचनवा
धई पाथर करेजवा डोलिया उठाई करिनवा।''[9]

धोबिया: ''निबिया कै पेड़वा जबै निक लागै,
जब निंबकौरी होय, मालिक जब निबकौरी होय।।
गौहूँ कै रोटिया जबै निक लागै,
घिउ से चभोरी होय, मालिक घिउ से चभोरी होय।।
अच्छा धोबिया जबै निक लागै,
धोवै बगुला के पाँख, मालिक धोवै बगुला के पाँख
अच्छा समिया जबै निक लागै,
धोबिया काँ खुब देय, मालिक धोबिया काँ खुब देय।।''[10]

बिरहा (अहीर जाति) सुगना करे हो बिहार, हे जंगल के बीचवां।

सुगना करे हो मनमानी, जगंल के बीचवां।।
करै शिकारी हो शिकार, हे जगंल के बीचवां।।
सुगनवा बने हो निसनवा, हे जगंल **के बीचवां।।''**[11]

ऋतु गीत :– भारत कृषि प्रधान देश है जिसमें ऋतुओं का विशेष स्थान है। यहाँ का लोक जीवन इसी पर आश्रित है, अतः उनके मनोरंजन रीति–रिवाज, कार्य–कलाप भी इसी के अनुसार विभाजित है भारत में दो–दो मास के अन्तराल से छः ऋतुएं आती हैं परन्तु चार ऋतुएं प्रधान है– शिशिर, बसंत, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु। इसमें भी जहाँ तक लोक गीतों का सम्बन्ध है, बसन्त अर्थात् होली, चैती तथा वर्षा ऋतु सम्बन्धी सावन के गीत कजरी, झूला ही अधिक उपलब्ध है ये अवसर क्रमशः फाल्गुन–चैत्र मास तथा सावन–भादों में ही आते है। इनमें शृंगार व करुण का ही पुट अधिक है। भारतीय ऋतुओं ने यहाँ के साहित्य संगीत और अन्य कलाओं को प्रभावित किए है। ऋतुएं जो लोकजीवन में नवीन चेतना का निर्माण करते है। इस चेतना का ही परिणाम है कि मानव हृदय में हुई रसोत्पत्ति के कारण विशिष्ट स्वरध्वनियों का सृजन हुआ, जो अपनी शृंगारिकता सौन्दर्य आदि के कारण लोक साधारण को मोहित करते रहे। अपने सौन्दर्य शृंगारिकता तथा मोहकता के कारण ही वह स्वरध्वनियां विशिष्ट गीतियों के नाम से प्रसिद्ध हुई। उदाहरण स्वरूप कुछ ऋतु प्रधान गीत प्रस्तुत है–

होली – फगुआ गीत

(1)

''आजु होरी के साज बनाई बिरिज में धूम मचाई आजु,
एने से निकरी नवलि राधिका, ओने से कृस्न कन्हाई आजु,
खेलत फाग परसपर मिलिजुलि, सोभा बरनि न जाई आजु।''[12]

(2)

''खेले अवध में होरी, केकरा हाथे कनक फिचुकारी
केकरा हाथे अबीर खेलें, सीता के हाथे कनक फिचुकारी
लछुमन हाथें अबीर खेलें।''[13]

चैती गीत

बाजे बाजे रे अवध में बधैया हो रामा।
राम लखन भरत शत्रुध्न प्रकटे चारों भैया हो रामा।।
नृप दशरथ अति उदिस भये सुनि कंचन देत लुहैया हो रामा।।''[14]

कजरी गीत

''झुलुवा झूलै सखी झमाझम
सावन झन–झन बूँद भरैं।
उरझि रही पिय के हिय कामिन
गल हुमेल लहरै
झोंका खाय कान में झूमक
झूलती नथ थहरै.......।''[15]

वर्तमान में ऋतुओं के विशिष्टता के अनुरूप अनेक गीत शैलियां प्रचार में है तथा इनका गायन हर्षोल्हास के साथ पर्वों त्यौहारों पर होता रहता है।

श्रम गीत :– भारतीय लोक संस्कृति में अधिकांश लोक गीतों का सृजन श्रमशील परिस्थितियों में ही होता है। उदाहरणार्थ भेड़–बकरी चराते हुए, घास लकड़ी काटते हुए, चक्की चलाते हुए, रोपाई करते हुए आदि ऐसे अनेकों श्रम करते हुए इन लोक गीतों का सृजन अनायास हो जाता है। महिलाओं के व्यक्तिगत हर्ष–विषाद के सभी गीत श्रम की घड़ियों में ही जन्म लेते है। कुछ ऐसे गीत भी है जो उत्सवों, समारोहों तथा पर्वों पर गाये जाते है और उनका श्रम से सीधा संबंध नहीं होता। अन्यथा प्रायः सभी गीतों के साथ 'श्रम' का कोई न कोई अंश अवश्य जुड़ा होता है। उदाहरण स्वरूप ब्रज का जोगनी, श्रमगीत जो मिर्च या ईख बोने के समय गाये जाने वाले गीत प्रकार है–

(1) जोगनी

''जोगिनी जल जंगल सोहौ।
सब रानीन कूँ काजर बेदी, तौ हमकूँ सिंदुरबा भेजौ।

सब रानीन कूँ हरी–हरी चुरियाँ तौ हमकूँ चुरियाँ भैजौ।
सब रानी कूँ रचनी सी मेंहदी हम कूँ मेंहदी भेजौ।
सब रानीन कूँ भारी बेला, हम कूँ खप्पर भेजौ।
जोगिनी जल–जंगल सोहौ।''[16]

(2)

''पाँच पेड़ गंगा जी पै लगाये, तौ इन बिरछन कछु रँग रे।
कछु कर रे धरम जासों तिर रे।
आप तिरे माई–बाप तिराए सगरौ कुटुम लै कें तिर रे।
तिर रे माचा के लोभी तिर रे कछू कर रेधरम जासों तिर रे।
पाँच पेड़ सोरों में लगाये पाँच पेड़ जगन्नाथ रे।
इन बिरछन कछु रँग रे।
कछु कर रे धरम जासों तिररे।''[17]

लोकसंगीत सामाजिक सन्दर्भ से अधिक नजदीक है। अन्य सांगीतिक–विधाओं की तुलना में लोकगीत जनमानस में रचा–बसा है। लोकगीतों में सामाजिक सम्बन्धों की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है। कुछ सांगीतिक रूपों में उनका सामाजिक आधार छुपा हुआ होता है जिसे गहरे विश्लेषण से ही जाना जा सकता है लेकिन कुछ का सामाजिक मूल्य बहुत स्पष्ट होता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण होली, चैती एवं कजरी आदि गायन शैलियाँ है। लोक गीत तथा उनके स्वरूपों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि लोक द्वारा गायें गये गीतों को लोक में सम्मानित स्थान प्राप्त था। इसी कारण विद्वानों एवं सगीतज्ञों ने उन लोक धुनों का विश्लेषण कर नियमबद्ध किया तथा वह शास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत भी समाविष्ट हुए। लोक संगीत जन–जन का गीत है तथा उससे मानव ह्रदय में प्रेम, आस्था, त्याग, सद्विचार के साथ भक्ति की भावना जागृत होती है।

संदर्भ सूची :–

1. संगीत कला विहार, अक्टूबर 1977, मिरज महाराष्ट्र पृ0 458
2. यमन, अशोक कुमार, संगीत रत्नावली, प्रकाशक– अभिषेक पब्लिकेशन्स चंडीगढ़, प्रथम संस्करण–2015, पृ0 549
3. विरही, डॉ0 परशुराम शुक्ल, लोक संस्कृति : अवधारणा और तत्व, प्रकाशक– मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, द्वितीय संस्करण–2011, पृ0 7
4. जैन, डॉ. शान्ति, लोकगीतों के संदर्भ और आयाम, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण–1999 पृ0 1
5. वही
6. वही
7. लोक संस्कृति : अवधारणा और तत्व, डॉ0 परशुराम शुक्ल विरही, पृ0 13
8. मिश्र, डॉ0 विद्यानिवास (प्रधान सम्पादक), चंदन चौक (उत्तर प्रदेश के लोकगीतों का संकलन), प्रकाशक– उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी लखनऊ, प्रथम संस्करण–1989, पृ0 147
9. डॉ0 सुमन, ऋतुकालीन लोकगीतों में शास्त्रीय संगीत के तत्व, नैतिक प्रकाशन, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण–2012, पृ0 30
10. चन्दन चौक, डॉ0 विद्यानिवास मिश्र, पृ0 70
11. ऋतुकालीन लोकगीतों में शास्त्रीय संगीत के तत्व, डॉ0 सुमन, पृ0 29
12. चन्दन चौक, डॉ0 विद्यानिवास मिश्र, पृ0 431
13. वही
14. ऋतुकालीन लोक गीतों में शास्त्रीय संगीत के तत्व, डॉ0 सुमन, पृ0 80
15. वही, पृ0 67
16. चन्दन चौक, डॉ0 विद्यानिवास मिश्र, पृ0 390
17. वही

नामवर सिंह की आलोचना दृष्टि पर प्रगतिवाद के संदर्भ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का प्रभाव

योगेन्द्र कुमार मीना*

प्रगतिवाद, मार्क्सवाद का साहित्यिक संस्करण है। जिसमें सर्वहारा के जीवन को व्यापक संदर्भों में उद्‌घाटित किया जाता है। यह दृष्टि समाज को वर्गीय भेद से देखती है, उसी के अनुसार साहित्य सृजन भी करती है। हिंदी साहित्य में यशपाल, प्रेमचंद (जीवन के अंतिम दौर में), निराला जैसे रचनाकार आरंभिक प्रगतिवादी लेखक कहें जाते हैं। वर्ष 1936 ई. में स्थापित 'प्रगतिशील लेखक संघ' (लखनऊ) की स्थापना के पश्चात हिंदी साहित्य में प्रगतिवाद का दौर माना जाता है। जो वर्ष 1943 ई. तक था। तत्पश्चात् प्रयोगवाद और नई कविता काव्य आंदोलन का विकास होता है किंतु आलोचना जगत में शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा और नामवर सिंह ने इसका प्रयोग आलोचना दृष्टि के रूप में किया है। जहाँ मार्क्स के विभिन्न सिद्धांतों और विचारों के माध्यम से साहित्य को देखा–परखा गया है। नामवर सिंह प्रगतिवाद और प्रगतिशील शब्द का व्यवहार पर्याय की भांति करते हैं। "जिस तरह छायावाद और छायावादी कविता भिन्न नहीं है उसी तरह प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य भी भिन्न नहीं है। 'वाद' की अपेक्षा 'शील' को अधिक अच्छा और उदार समझकर इन दोनों में भेद करना कोरा बुद्धि–विलास है और कुछ लोगों की इस मान्यता के पीछे प्रगतिशील साहित्य का प्रच्छन्न विरोध–भाव छिपा है।"[1] प्रगतिशील साहित्य का अर्थ प्रगतिवाद कदापि नहीं। वेदों की तुलना में उपनिषद प्रगतिशील है, प्रगतिवादी नहीं। "प्रगतिवाद मूल रूप से साम्यवादी विचारधारा की स्थापना करने का एक सशक्त माध्यम था। इसकी स्थापनाएं भी उसी से अनुप्रमाणित और स्थापित थीं। मार्क्सवाद ने जिस प्रकार राजनीति को प्रभावित करके पाश्चात्य शासन प्रणाली एवं राजनीतिक विचारधारा को प्रभावित किया था, उसी प्रकार प्रगतिवाद ने साहित्य के क्षेत्र में साहित्यिक विचारधारा को भी प्रभावित करके उसको एक निश्चित साधन बनाने का प्रयास किया था।"[2] दरअसल प्रगतिवाद प्रगतिशीलता का ढांचागत आग्रह है, जिसकी अपनी सीमाएं हैं। इसके विपरीत प्रगतिशीलता वादमुक्त व्यापक संदर्भों में प्रयुक्त होने वाला शब्द है, जो मनुष्य मात्र की कल्याण कामना के वैचारिक पक्ष को उजागर करता है। मार्क्सवाद पूंजीपतियों के प्रति बैरभाव से भरा हुआ है, इसलिए वह प्रगतिशील नहीं क्योंकि प्रगतिशीलता मनुष्यमात्र को अपने सत्य और उन्नति का अधिकारी पाती है। नामवर जी के प्रगतिवादी होने के बावजूद यह कहा जा सकता है कि नामवर सिंह की अपेक्षा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी अधिक प्रगतिशील है। वस्तुतः प्रगतिशीलता विवेकधर्मी है, यह ढांचों से सर्वथा मुक्त है। वैदिक परंपरा की ही बात की जाए तो ब्रह्मनिष्ठ प्रगतिशील है और पंडित–पुरोहित प्रतिक्रियावादी; इसी भांति यदि प्रगतिशील और प्रगतिवाद शब्द का व्यवहार किया जाए तो ज्यादा स्वस्थ (प्रगतिशील) होगा।

नामवर सिंह की यह धारणा भी निर्मूल है कि "प्रगतिशील साहित्य लेखक की स्वयंभू अंतःप्रेरणा से उद्‌भूत नहीं होता, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के क्रम से वह भी परिवर्तित और विकसित होता रहता है और इसके सिद्धांत उत्तरोत्तर स्पष्ट तथा अधिक पूर्ण होते चलते हैं।"[3] इस धारणा के संबंध में दो बातें उल्लेखनीय है... पहली बात यह है कि यह धारणा केवल सामाजिक और सांस्कृतिक तत्वों को ही प्रगतिशील साहित्य का आधार मानती है, जबकि तथ्य यह है कि प्रगतिशील साहित्य व्यक्ति मन, समाज, संस्कृति और समूचे क्रिया व्यापार का परिणाम होता है। ये उत्तरोत्तर स्वच्छ होता चला जाता है। दूसरी बात यह है कि ऐसा प्रगतिशील साहित्य के संबंध में तो ठीक है किंतु प्रगतिवादी साहित्य के संबंध में बिल्कुल गलत है क्योंकि प्रगतिवादी साहित्य मार्क्सवादी धारणाओं का अनुकर्ता है इसलिए उससे निकला साहित्य सांचे की ईंट ही होगा। इसी भाँति उससे की गई समीक्षा भी सांचे की ईंट ही होगी।

***शोधार्थी, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।**

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और नामवर सिंह की प्रगतिवाद संबंधित समीक्षाओं की तुलना करने से ऐसा दिखाई पड़ता है कि नामवर सिंह ने द्विवेदी जी की प्रगतिवाद संबंधी समीक्षा पढ़ी ही नहीं, उस पर भी उन्होंने ' आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ' में द्विवेदी जी का एक उद्धरण रख दिया हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिंदी साहित्य उद्भव और विकास' में 'प्रगतिवाद' वाले अध्याय में एक अध्याय रखा है, जिसमें वे स्पष्टतः 'प्रगतिशील और प्रगतिवादी साहित्य' में अंतर करते हैं। वे लिखते हैं... " प्रगतिशील साहित्य व्यापक शब्द है, किंतु प्रगतिवाद एक निश्चित तत्ववाद को सूचित करता है।"[4] द्विवेदी जी के इस वक्तव्य के नामवर सिंह के संदर्भ में दो अर्थ हो सकते हैं. .. पहला नामवर जी ने प्रगतिवाद वाले अध्याय को पूरा पढ़ा ही नहीं और अंतिम पंक्तियों से प्रगतिवाद की संभावना को अपने लेख 'प्रगतिवाद' के अंत में रख दिया। दूसरा यदि नामवर सिंह ने ये पढ़ा है, तो वे प्रगतिशील साहित्य की संपदा को प्रगतिवाद के तंबू नीचे ले जाने के प्रयत्न से ऐसा करते हैं और प्रगतिवाद व प्रगतिशील शब्द का व्यवहार पर्याय की भाँति करते पाए जाते हैं।

नामवर सिंह ने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की संभावना दृष्टि को ही अपने चिंतन के माध्यम से क्रियात्मक रूप दिया है। "प्रगतिवाद के विषय में आज के युग दृष्टा समीक्षक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कथन केवल भविष्य की संभावनाओं की ओर ही नहीं, बल्कि वस्तुस्थिति से भी जो संभावना प्रकट होती है उसकी ओर भी संकेत करता है।"[5] और वह कथन है ..." प्रगतिशील आंदोलन बहुत महान् उद्देश्य से चालित है। इसमें सांप्रदायिक भाव का प्रवेश नहीं हुआ तो इसकी संभावनाएं अत्यधिक हैं। भक्ति आंदोलन के समय जिस प्रकार एक अदम्य दृश्य आदर्श–निष्ठा दिखाई पड़ी थी, जो समाज को नए जीवन दर्शन से चालित करने का संकल्प वहन करने के कारण अप्रतिरोध शक्ति के रूप में प्रकट हुई थी उसी प्रकार यह आंदोलन भी हो सकता है।"[6] इसमें सांप्रदायिक चिन्ह तो द्विवेदी जी को ही दिखने लगे थें। द्वितीय जी यह अनुमान न कर सके कि यह स्वयं सम्प्रदाय होकर प्रतिष्ठित हो जाएगा और वाद के झरोखे से परंपरा, धर्म, दर्शन और ज्ञान की अन्य धाराओं को शिकायत भरी दृष्टि से देखता हुआ अतिआग्रही हो जाएगा। दुर्भाग्य से यह हुआ भी उन्हीं के मूर्धन्य शिष्य के हाथों।आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी स्वतंत्र मना मुनी हैं, उनकी सीमाएं न के बराबर हैं। वे सत्य को उसकी समग्रता में देखते हैं। द्विवेदीजी प्रगतिवादी मूल्यों का स्वागत करते हैं किंतु इसके वाद से वे भी सावधान थें। " यह एक बिल्कुल गलत धारणा है कि सभी प्रगतिवादी रचनाएं मार्क्सवादी विचारधारा का समर्थन या प्रचार करती हैं। वस्तुतः कई प्रकार की आधुनिक मनोभावों के प्रचार के उद्देश्य से लिखी गई समस्त रचनाएँ प्रगतिशील कही जाने लगी हैं। "[7] नामवर सिंह ने जीवन भर इसी गलत धारणा को पोषित किया हैं। यहाँ तक कि द्विवेदी जी के चिंतन को भी मार्क्सवादी खेमे में घसीटा है, 'दूसरी परंपरा की खोज' इसका प्रमाण है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रगतिवादी मूल्यों का स्वागत किया। "मार्क्सवादी साहित्य कितने भी दुर्धर्ष जड़–विज्ञान के तत्ववाद पर आधारित क्यों न हों, वह मनुष्य को केवल नियति का गुलाम नहीं मानता।"[8] किंतु इसमें आचार्य का परन्तुक है क्योंकि वे दृष्टि विशेष के आग्रही नहीं। वे समन्वयवादी हैं और उनका समंवयवाद अतिवादियों का सस्ता समन्वय नहीं अपितु उसमें विवेकपूर्वक अस्वीकार का साहस भी है तो स्वस्थ तत्वों का अनुग्रह पूर्ण स्वागत भी। "संतुलित दृष्टि वह नहीं है जो अतिवादिताओं के बीच एक मध्यम मार्ग खोजती फिरती है, बल्कि वह है जो अतिवादियों की आवेग तरल विचारधारा का शिकार नहीं हो जाती और किसी पक्ष के उस मूल सत्य को पकड़ सकती है जिस पर बहुत बल देने और अन्य पक्षों की उपेक्षा करने के कारण उक्त अतिवादी दृष्टि का प्रभाव बढ़ा है। संतुलित दृष्टि सत्यान्वेषी की दृष्टि है। एक ओर जहाँ वह सत्य की समझ मूर्ति को देखने का प्रयास करती है, वहीं दूसरी ओर वह सदा अपने को सुधारने और शुद्ध करते रहने को प्रस्तुत रहती हैं। वह सभी प्रकार के दुराग्रह और पूर्वाग्रह से मुक्त रहने की ओर सब तरह से सही विचारों को ग्रहण करने की दृष्टि है।"[9] द्विवेदी जी के इस उद्धरण से नामवर सिंह के पूरे चिंतन का नग्न रूप प्रकाश में आ जाता है। जहाँ अतिआग्रह, पूर्वाग्रह और वादाआग्रह के कारण सत्य तथ्य मुक्त होकर सैद्धांतिक वायवीयता में लीन हो जाता है। द्विवेदी जी की समीक्षा के दौरान वे इस समन्वय की कुंजी को याद नहीं करते इसलिए उन्हें झूठ–मूठ का स्पष्टीकरण देना होता है कि यह उनके संप्रदाय पोषण के लिए नहीं। "यह स्पष्ट कर देना जरूरी हो जाता है कि यह प्रयास परंपरा की खोज का ही है, सम्प्रदाय–निर्माण का नहीं।"[10] यही कथनी–करनी का विरोध नामवर जी का आलोचना सूत्र है।

नामवर सिंह का जनवादी चिंतन उन्हें एक ढर्रे में बांध देता है। नई कविता को दार्शनिक आधार इसी जनवादी ढर्रे का दिया गया है। रस की पूर्णतः उपेक्षा कर दी गई है, यहाँ तक कि उसकी पुनर्व्याख्या पर भी प्रश्न खड़े करते हुए उसे म्यूजियम में रखने की हिदायत दे दी गई है। चिंतन की एकपक्षीयता से समूची नई कविता की स्थिति और प्रगतिवाद का वास्तविक रूप द्विवेदी जी के इस कथन से समझ आता है। "मैं उन रचनाओं को किसी प्रकार प्रगतिवादी मानने को तैयार नहीं हूँ, जिनमें संसार को नए सिरे से उत्तम रूप में ढालने का दृढ़ संकल्प न हो। जो रचना केवल हमारी मानसिक चिंताओं का विश्लेषण करने का दावा करके हमें जहाँ का तहां छोड़ देती है, उसमें गति ही नहीं है। उसे प्रगतिशील तो कहा ही नहीं जा सकता।"[11] मुक्तिबोध की सत्–चित्–वेदना को इस कथन के प्रकाश में देखने पर नई कविता के जनवादी दार्शनिक आधार की सारी सच्चाई प्रकट हो जाती है। इस भांति रस और प्रगतिवाद के प्रगतिशील तत्वों द्वारा एक ऐसा दर्शनिक आधार तैयार करने की आवश्यकता है जिससे कविता पुनः शुष्क बुद्धि से हृदय की तरफ दौड़ पड़े, न सिर्फ दौड़ पड़े अपितु ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान को उपलब्ध हो सके। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की दृष्टि आगे–पीछे देखती हैं, तब उन्हें परंपरा की महत्ता दिखाई पड़ती है तो मार्क्सवादी साहित्य की प्रगतिशीलता भी ; इसीलिए द्विवेदी जी ऐसे प्रगतिशील साहित्यकार की कल्पना करते हैं जो परंपरा के ज्ञान की उपेक्षा न करता हो, चाहे वह किसी भी क्लास से संबंधित हों, साथ ही मनुष्यमात्र को शोषण मुक्त करवाने हेतु संकल्पबद्ध भी हो। " जो लोग इस देश में प्रगतिशील साहित्य के आंदोलन का नेतृत्व कर रहे हैं उन्हें अपने देश के संचित ज्ञान की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। आज नहीं तो कल उन्हें उस विशाल ज्ञानराशि के संरक्षण और आलोचना का भार अपने कंधे पर लेना होगा। हजारों वर्ष की समृद्ध ज्ञान राशि को फेंक देना बुद्धिमानी नहीं है। दुनिया की अन्य सभी वस्तुओं को फेंक देने से भार हल्का हो सकता है पर ज्ञान के फेंकने से भार बढ़ जाता है। "[12]

नामवर सिंह द्विवेदी जी की परंपरा पर ' दूसरी परंपरा की खोज ' पुस्तक लिख देते हैं किंतु उसे अपनी चेतना और सृजनशीलता का प्रभावशाली संस्कार नहीं बनाते। द्विवेदी जी के प्रगतिशील आयाम को नामवर जी प्रगतिवादी ढांचे में समायोजित करने की चेष्टा करते हैं। इससे द्विवेदी जी की महिमा कम नहीं होती अपितु नामवर सिंह की सीमाओं का ही ज्ञान होता है। इस प्रकार नामवर सिंह की आलोचना दृष्टि पर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का प्रभाव उनकी गुरूता के कारण है। द्विवेदी जी के प्रभाव ने नामवर सिंह की आलोचना दृष्टि को मार्क्सवादी उग्रता से हल्का किया है किंतु उनका मार्क्सवादी रंग–ढंग ज्यों–का–त्यों बना रहा है फिर भी नामवर सिंह हिंदी आलोचना के शिखर पुरुषों में गिने जाते हैं और हिंदी के वाद–विवाद–संवाद को जीवंत रखने में उनका महत्वपूर्ण योगदान है। वे हिंदी आलोचना के शिखर पुरुषों में अपना प्रतिष्ठित स्थान रखते है, उनका योगदान प्रशंसनीय और वंदनीय है।

संदर्भ सूची :–

1. सिंह, नामवर, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, 2016, पृ. सं. ५६।
2. वर्मा, धीरेन्द्र (संपा.) व अन्य, हिंदी साहित्य कोश (भाग–एक), वाराणसी, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, तृतीय संस्करण, वसंत पंचमी १६८५, पृ. सं. ३८६।
3. सिंह, नामवर, आधुनिक साहित्य की प्रवृतियां, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, 2016, पृ. सं. ६४।
4. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, इक्कीसवां संस्करण, 2017, पृ. सं. 259।
5. सिंह, नामवर, आधुनिक साहित्य की प्रवृतियां, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, 2016, पृ. सं. 92।
6. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, इक्कीसवां संस्करण, 2017, पृ. सं. 261–262।
7. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, अशोक के फूल, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, तैंतीसवां संस्करण, 2016, पृ. सं. 40।
8. वही, पृ. सं. 41–42।
9. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, साहित्य सहचर, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, 2017, पृ. सं. १०८।
10. सिंह, नामवर, दूसरी परंपरा की खोज, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, चौथा संस्करण, 2017, पृ. सं. 8।
11. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, अशोक के फूल, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, तैंतीसवां संस्करण, 2016, पृ. सं. 40।
12. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, साहित्य–सहचर, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, 2017, पृ. सं. १२६।

काव्यानुवाद की समस्याएं एवं समाधान

मृणाल ठाकुर*
डॉ. विदुषी आमेटा**

सारांश : भूमण्डलीकरण के वर्तमान परिप्रेक्ष्य में काव्यानुवाद की प्रांसगिकता बढ़ती जा रही है तथा भारत जैसे बहुभाषा–भाषी देश में इसकी उपादेयता स्वयंसिद्ध है। यह न केवल ज्ञान, वरन सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक विरासत को प्रभावित करने में सक्षम है। अनुवादकों ने अपने अथक प्रयासों से अन्य भाषाओं में रचित एवं सृजित किये गये काव्य ज्ञान, चिन्तन एवं भावनाओं को हिन्दी साहित्य में अनूदित करके अन्य भाषाओं के महान साहित्यकारो की कृतियों को व्यापकता प्रदान की। अन्यथा ये काव्यकृतियाँ अपनी–अपनी भाषा के पाठकों तक ही सीमित रह जाती। आज ज्ञान–विज्ञान, व्यापार एवं व्यावसायिक क्षेत्रों में काव्यानुवाद की उपयोगिता बढ़ती जा रही है।

भूमण्डलीकरण के इस दौर में काव्यानुवाद हमारी सामाजिक जरूरत बन गया है। इसके विभिन्न आयामों, पहलुओं तथा समस्याओं पर गहन चिन्तन तथा विश्लेषण करके इस क्षेत्र में आ रही कठिनाइयों, समस्याओं के निराकरण एवं समाधान की दिशा में सार्थक प्रयास किये जाने की आवश्यकता है, जिससे हिन्दी साहित्य में अनुवाद की प्रविधि के दौरान भाषिक समन्वय स्थापित हो सके, जिससे भाषा ध्वन्यात्मक प्रतीकों की व्यवस्था का दूसरी भाषा के निकटतम, कथनतः और कथ्यतः समतुल्य एवं सहज प्रतीकों की प्रतिस्थापना में मूलभाव संरक्षित रह सके।

विषयवस्तु : एक भाषा में अभिव्यक्त भावों, विचारों, अनुभूतियों एवं संवेदनाओं की दूसरी भाषा में प्रस्तुति या उसकी सजीव अभिव्यक्ति अनुवाद कहलाती है। अनुवाद वह सृजनात्मक प्रक्रिया है जिसमें भाषा विशेष के साहित्य में समाहित विचारधाराओं, सांस्कृतिक तत्त्वों एवं संवेदनाओ की अभिव्यक्ति को सम्यक बोध मिलता है। अनुवाद प्राचीन श्रम साधना है जो जीवन के हर क्षेत्र में दिखाई देती है। इस तरह अनुवाद जीवन व्यवहार में अपरिहार्य हो गया है। वर्तमान में मानव व्यवहार के सभी क्षेत्रों को अनुवाद साहित्य ने समाविष्ट करके अपना विस्तृत व्यापक स्वरूप निर्मित किया है। इसमें कलात्मक, वैज्ञानिक एवं शिल्पपरक प्रकृति के नये आयाम जुड़ते जा रहे है जिससे वस्तुतः अनुवाद विज्ञान का महत्त्व स्वतः ही सिद्ध हो जाता है। काव्यानुवाद इससे अछूता नहीं है।

अनुवाद से तात्पर्य है किसी के कहने या अभिव्यक्त करने के बाद सन्निकट पुनरुक्ति पुनः कथन या कहना। उन्नीसवी शताब्दी के अन्त में इसे पारिभाषिक शब्द के रूप में मान्यता का दर्जा प्राप्त हुआ। अनुवाद विज्ञान के प्रणेता नाइडा के अनुसार – "स्रोत भाषा के सन्देश को लक्ष्य भाषा में अर्थ तथा शैली की दृष्टि से, निकटतम सहज समतुल्यों द्वारा पुनः सृजित करना अनुवाद है।"

काव्यानुवाद गद्य अथवा पद्य में से किसी का भी हो सकता है हिन्दी मे संस्कृत काव्यों को अनूदित करने की एक समृद्ध परम्परा रही है। प्राचीन परम्परा में इस बात के पर्याप्त प्रमाण है जो काव्यानुवाद को बड़ी लगन से अनूदित करने की पुष्टि करते है। काव्यानुवाद निबद्ध एवं अनिबद्ध दोनों रूपों में हुआ है। लाता सीताराम द्वारा कालिदास के 'रघुवंश काव्य' का श्रीधर पाठक ने कालिदास के 'ऋतुसंहार' का तथा यूनानी कवि होमर ने 'इंलियड' महाकाव्य का अनुवाद किया है। काव्यानुवाद की परम्परा काफी पुरानी है। काव्य जैसे रागात्मक साहित्य का अनुवाद मानव की अन्तःवृत्तियों की समृद्धि एवं परिष्कार के लिये अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है। कविता साहित्य की सर्वाधिक सृजनशील विधा एवं कवि मन की भावात्मक अभिव्यक्ति है। काव्यानुवाद का मुख्य लक्ष्य विश्व की अमर कृतियों को विश्व के कोने–कोने तक पहुँचाना है जिसे अधिकांश विद्वानों ने दुस्साध्य एवं दुष्कर माना है। भोलानाथ तिवारी के अनुसार काव्य कला अन्ततः उन शब्दो पर निर्भर होती है जिनके द्वारा उनकी अभिव्यक्ति होती है, उसकी अपनी ध्वनि होती है, अपना संगीत होता है, अपना विशिष्ट संस्कार, परिवेश, इतिहास तथा रूप वैभव होता है।

***शोधार्थी, हिन्दी विभाग, माधव विश्वविद्यालय, पिण्डवाड़ा (राजस्थान)**
****सह आचार्य, हिन्दी विभाग, माधव विश्वविद्यालय, पिण्डवाड़ा (राजस्थान)**

काव्यानुवाद में अनुवादक स्रोत भाषा की सामग्री का सतही अध्ययन करता है और उसका अर्थ ग्रहण कर काव्य शास्त्रीय अर्थ को समझता है एवं परखता है। स्रोत भाषा में विद्यमान बिम्ब, प्रतीक एवं अलंकारों को समझने का कार्य करता है। वह रस सम्मत अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये उपयुक्त शब्दावली का चयन करता है। शब्द रचना एवं अभिव्यक्तिकरण के बाद इसका अनुशीलन करता है। भाव अनुशीलन के बाद काव्य का लक्ष्य भाषा में रूपान्तरण करता है। हर भाषा की संरचना अलग स्तर की होती है तथा हर भाषा की अपनी सांस्कृतिक परम्परा होती है। हिन्दी आर्य संस्कृति की समृद्ध भाषा है।

भारतीय साहित्य को विश्व साहित्य से जोड़ने में हिन्दी की अहम भूमिका है। अधिकांश काव्य कृतियाँ पहले हिन्दी में अनूदित होती है बाद में अन्य भाषाओं में। हिन्दी साहित्य में अनुवाद कार्य सार्थक रूप से भारतेन्दु काल में हुआ। भारत में अनुवाद की बहुआयामी परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही हैं। मध्यकाल में संतों ने संस्कृत और पाली भाषा के साहित्य, दर्शन, धर्म, नीतियों एवं काव्यों आदि को जागृत कर जन जागरण किया। भारत में संस्कृत भाषा से अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद तथा काव्यों को अनूदित करने की लम्बी परम्परा रही है।

भास, कालिदास, अश्वघोष, दण्डी, भवभूति, बाणभट्ट जैसे अनेक रचनाकारों की रचनाएँ भारतीय एवं विश्व की अनेक भाषाओं में अनूदित हुई है। संस्कृत में रचित रामायण एवं महाभारत जैसी कालजयी कृतियों का अनुवाद प्राकृत भाषाओं में हुआ तथा पुराणों के अनुवाद संस्कृत से कई क्षेत्रीय भारतीय भाषाओं में हुए। इसमें गद्य, पद्य दोनों प्रकार के अनुवाद शामिल है।

महाकवि रवींद्र नाथ टैगोर, बंकिमचन्द्र चटर्जी तथा बाल गंगाधर तिलक की रचनाओं का कई भारतीय भाषाओं में अनुवाद हुआ है। भारतीय साहित्य एवं अनुवाद के अध्येता डॉ. ए. के. रामानुजन के अनुसार तीन सौ (300) रामायणी ग्रंथों का अन्य भाषाओं में अनुवाद हुआ है। इसमें पद्यानुवाद तथा काव्यानुवाद भी सम्मिलित है।

काव्यानुवाद में समस्याएं एवं उनका निराकरण : अनुवाद विविध भाषाओं एवं विविध संस्कृतियों से साक्षात्कार कराने वाला साधन है। इसमें सम्प्रेषण का सर्वाधिक महत्त्व है। शब्दों, वाक्यों, अभिव्यक्त पक्षों तथा प्रयुक्तियों तक व्याप्त अनुवाद प्रक्रिया में अनुवादकों को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। काव्यानुवाद की प्रमुख समस्याओं में निम्न बिंदुओं पर ध्यान केन्द्रित कर उसका निराकरण करना आवश्यक हो जाता है।

– शब्दों का चयन
– वाक्यों को जोड़े–तोड़े बिना उसकी अभिव्यक्ति
– ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति
– नाद सौन्दर्य, छन्द, अप्रस्तुत विधान तथा साहित्यमूलक शब्दावली का अनुवाद
– मूल भाषा की साहित्यक संवेदना का दूसरी भाषा में अवतरण

काव्यानुवाद में स्रोत भाषा की सामग्री का सतही दृष्टि से अध्ययन करके शब्दों का चयन करना चाहिए, ताकि काव्यशास्त्रीय अभिव्यक्ति का अर्थ समझा जा सके, जो मूल अभिव्यक्ति के भाव को परिलक्षित करे तथा अनुवाद में उसका मौलिक भाव अक्षुण्ण रहे। वाक्यों को सृजित करते समय उसमें तारतम्यता तथा सामंजस्य दिखाई देना चाहिए, उसमें जोड़–तोड़ प्रकट नहीं होनी चाहिए, जिससे सम्प्रेषण सार्थक बन पड़े। काव्य का अधिकांश हिस्सा ध्वन्यर्थमूलक, व्यंग्यार्थपरक, निहितार्थ युक्त, संकेत प्रधान तथा गूढार्थ होना चाहिए, जिससे मौलिक भाषा के सभी पहलू लक्ष्य भाषा में सार्थक रूप से प्रस्तुत हो सके। काव्य की ध्वनि तथा शैली लययुक्त होनी चाहिए, इससे सम्प्रेषण में भी लयबद्धता स्थापित हो जाएगी।

मूलभाषा की साहित्यक संवेदना तथा उसकी प्रवृत्ति की विशिष्टता का उसके अनुरूप ही दूसरी भाषा में अवतरण करना अनुवादक की प्रतिभा का परिचायक होता है। प्रतिभाशाली अनुवादक ही काव्यानुवाद के पुनः सृजन में सफल होते हैं। भाव अनुभूति की सघनता एवं गहनता की परिणति काव्यानुवाद का आभूषण होती है। अतः अनुवादक की सृजनात्मक कला ही कवि मन का भावात्मक सम्प्रेषण है। वह विभिन्न भाषाओं की अमर रचनाओं का रुपान्तर अपनी कौशलता से अपनी भाषा के सहृदय समाज को सौंपता है। काव्य जैसे रागात्मक साहित्य में नाद सौन्दर्य एवं

छन्द में साहित्यमूलक शब्दावली का चयन इस तरह किया जाता है, जिससे मूलभाषा की साहित्यक संवेदना का दूसरी भाषा में अवतरण करने में कठिनाई न हो तथा अभिव्यक्ति में मौलिकता उद्धृत हो।

मूल और लक्ष्य दोनों भाषाएँ सामाजिक एवं सांस्कृतिक धरातल पर भिन्न है। सामाजिक संरचना में वहाँ रहने वाले लोगों का, उनके रीति–रिवाजों का, वेशभूषा, खानपान, त्योहार, पर्व, कला, संगीत, साहित्य, जाति एवं धर्म का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। इन सामाजिक विशेषताओं के संयोग से संस्कृति प्रकट होती है। अनुवादक को अनुवाद करते वक्त उनका ध्यान रखना चाहिए। अनुवादक को सावधानीपूर्वक मूल अर्थ अनूदित करना चाहिए तथा उसे आकर्षक बनाकर प्रस्तुत करना चाहिए। मूल लेखक को अपने विचारों, शब्दों का चयन करने की पूरी स्वतंत्रता होती है जबकि अनुवादक मूल रचनाकार के भावों से बंधा रहता है और उनके निकटतम शब्दों का चयन इतनी चतुराई एवं सटीकता से करता है कि मूल रचनाकार के भावों को प्रकट करने में उसको कोई कठिनाई न आए। काव्यानुवाद में इस प्रकार की परिणति पर ध्यान देकर ही सही सम्प्रेषण की दिशा साधी जा सकती है।

निष्कर्ष : भूमण्डलीकरण के इस दौर में जब समकालीन साहित्य की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हो रहा है। विश्व में साहित्यिक अनुवाद की मांग जोर पकड़ने लगी है। काव्य जैसा रागात्मक साहित्य अब मानव सभ्यता की अनिवार्यता में शामिल हो गया है। भारत जैसे बहु भाषा–भाषी देश में इसकी उपादेयता को नकारा नहीं जा सकता। भारत के विभिन्न प्रदेशों एवं क्षेत्रों के साहित्य में निहित मूलभूत एकता का स्वरूप निखारने में अनुवाद की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। यह मानवीय एकता के आड़े आने वाली भौगोलिक तथा भाषायी भिन्नता की दीवारों को तोड़ने में सहायक बन कर विश्व मैत्री की सुदृढ़ता स्थापित करने तथा बहुभाषिक, और बहुसांस्कृतिक समाज को बांधने का कार्य करता है। भारत में काव्यानुवाद का विशिष्ट एवं अनूठा स्थान है। इसकी वजह से हम देश की अन्य सांस्कृतिक धरोहरों, आचार, विचारों तथा व्यवहार साहित्य का परिचय पाते हैं। भारत बहुविध संस्कृतियों का भण्डार गृह है किसी क्षेत्र विशेष या प्रदेश विशेष की विशेषता जानने के लिये हमें अनुवाद की शरण लेनी पड़ती है। स्वातंत्र्योतर काल में राष्ट्र भाषा एवं राजभाषा के रूप में हिन्दी का उल्लेखनीय योगदान रहा है।

हिन्दी प्रदेशों में जब ब्रज भाषा का बोलबाला रहा तब मलयालम साहित्य ने हिन्दी भाषा को अपनाने का साहस किया। केरल प्रान्त में हिन्दी को मध्य युग के व्यापार तथा व्यवसाय ने बढ़ावा दिया। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों ने हिन्दी के भक्तिमय संगीत को केरल प्रान्त में प्रचारित किया तथा वहाँ हिन्दी भाषा के भजन गाए जाने लगे। इस तरह विभिन्न भारतीय प्रदेशों के भाषाई काव्य हिन्दी में अनूदित होने लगे। ये काव्यानुवाद कई प्रमुख पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हुए।

समतुल्य या सममूल्य शब्दों के चयन, प्रतीकों, बिम्बों के सही अंतरण तथा भाषापरक जटिलताओं से बचने के लिये विशेष कुशलता के प्रदर्शन ने अनुवाद, काव्यानुवाद के स्तर को पोषित करके उसे उच्चता प्रदान की है। काव्यानुवाद की संवेदना तथा सम्प्रेषणीयता को प्रभावशाली बनाने में कई अनुवादकों ने समय–समय पर हिंदी साहित्य की महती सेवा की है।

संदर्भ–सूची :–

1. डॉ. भोलानाथ तिवारी, अनुवाद विज्ञान, किताबघर प्रकाशन, 1972
2. डॉ. भोलानाथ तिवारी, अनुवाद विज्ञान, पृष्ठ सं. 14
3. श्री पी. के. केशवानापर, दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार आन्दोलन का समीक्षात्मक इतिहास, पृष्ठ सं. 302
4. डॉ. एन. ई. विश्वनाथ अय्यर, अनुवाद भाषाएँ, समस्याएँ, स्वाति प्रकाशन, 1986
5. डॉ. गोपीनाथ, केरलियो को हिन्दी की देन, राजकमल प्रकाशन, 1903
6. डॉ. कृष्ण कुमार, अनुवाद विज्ञान की भूमिका, 2008
7. डॉ. नागलक्ष्मी, अनुवाद चिन्तन, दृष्टि और अनुदृष्टि, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा 2009

*

नागार्जुन की रचना 'पारो'

डॉ. विनय कुमार*

नागार्जुन केवल हिन्दी के रचनाकार नहीं है, अपितु समान रूप से मैथिली और संस्कृत के रचनाकार भी हैं। नागार्जुन रचनावली भाग चार के आमुख में रचनावली के संपादक शोभाकांत ने लिखा है कि ''उपन्यासकार बनने की ललक में नागार्जुन ने पहला उपन्यास अपनी मातृभाषा मैथिली में लिखा। 'पारो' नामक यह मैथिली उपन्यास मई 1946 ई में पटना से प्रकाशित हुआ था।''[1] कालांतर में इस उपन्यास को हिन्दी में कुलानंद मिश्र ने रूपांतरित किया था और संभवतः 1975 ई. में हिन्दी पाठकों के बीच इसकी प्रति आई थी। नागार्जुन मूलतः गाँव के उपन्यासकार हैं। उनकी औपन्यासिक यात्रा में मिथिला के गाँव और उन गाँवों की लोकसंस्कृति, परंपरा और रीतिरिवाज मुख्य रूप से विषय बनते हैं। पात्रों का चयन भी उसी के अनुरूप है। रतिनाथ की चाची, बलचनमा, बाबा बटेसरनाथ जैसे उपन्यासों में भी नागार्जुन इसी अंदाज में दिखाई पड़ते हैं। यदि ग्रामीण जीवन की सुंदर और सजीव अभिव्यक्ति प्रेमचंद की रचनाओं में दिखाई पड़ती है तो यह मानने में संकोच नहीं कि नागार्जुन अपनी रचनाओं में प्रेमचंद की परंपरा का ही वहन करते हैं। इस आशय में नेमिचंद्र जैन ने अधूरे साक्षात्कार में लिखा है कि ''प्रेमचंद के बाद से देहातों का जीवन हिन्दी उपन्यासों में से लगभग गायब हो गया था।... नागार्जुन जिस जीवन का चित्रण करते हैं उसमें उतार चढ़ाव अधिक नहीं है, जीवन की गहराई नहीं है, जो 'गोदान' मे मौजूद है। इसलिए उपन्यास का ग्राफ लगभग एक सी सतह पर ही चलता रहता है, भावना की या अनुभूति की गहरी चोट का अवसर नहीं आ पाता है।''[2]

प्रेमचंद के यहाँ कथा सपाट ढंग से चलता हुआ सामंती समाज के शोषण और उस शोषण में पिसते हुए गरीब और कृषक समाज की पीड़ा को मुख्यतः अभिव्यक्त करता है। वहीं नागार्जुन के यहाँ कथा मैथिल समाज और संस्कृति की वास्तविक सच्चाईयाँ को उकेरता हुआ पात्रों व चरित्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तक पहुँचता है और विश्लेषण की धार बहुत ही तीक्ष्ण है, जो प्रेमचंद के यहाँ दिखलाई नहीं पड़ता है। 'पारो' नामक उपन्यास की पार्वती के चरित्र को समझने वास्ते हमें उसके मनोवैज्ञानिक स्तर पर पहुँचना पड़ता है। पारो को पढ़ते हुए दृष्टि सहसा जैनेन्द्र के त्यागपत्र पर पहुँच जाना बहुत ही स्वाभाविक है। नागार्जुन की पारो और जैनेन्द्र की मृणाल की पीड़ा लगभग एक सी है। हिन्दी उपन्यासों की कड़ी में स्त्री–मनोविज्ञान के मानचित्र को उकेरने में ये दोनों ही उपन्यास सुंदरतम हैं।

पारो में एक ओर जहाँ परंपरागत मैथिल समाज में जड़ होती जा रही व्यवस्था का चित्रण है, वहीं दूसरी ओर इस जड़तावादी व्यवस्था में पिस रही आधी आबादी की मुक्ति के प्रश्न भी अभिव्यक्त हुए हैं। पारो में बिरजू अर्थात् ब्रजकांत नायक है और पारो अर्थात् पार्वती इस उन्यास की मुख्य नायिका है। बिरजू की पिसयौत बहिन (फूफी की बहिन) पारो है। दोनों ही पात्र बालपन की अवस्था से गुजरते हुए एक दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं और यह आकर्षण विशुद्धतः प्राकृतिक है। समाज और परिवार के बनाए गए नियमों का बोध इन पात्रों को नहीं है। ये कथा में बेहद स्वाभाविक का ढंग से आते हैं। ''दरवाजे पर उस दिन कोई न था, केवल हम दोनों ही खेल रहे थे। पारो बनी थी दुल्हन और मैं बना था दूल्हा। सिंदूर–दान माटी से ही किया था। पति–पत्नी की रात ही तो चतुर्थी होती है। रात का खाना होने जा रहा था, सचार लग ही रहा था कि धम्म से वहाँ पीसी पहुँच गई। जूड़ा पकड़कर उन्होंने पारो को खींचा और कान मेरे धरे।''[3] कल्पना के उठते तरंगों में सामाजिक नियमों से दूर इन अबोध को रिश्तों की मर्यादा का ज्ञान नहीं था। मैथिल संस्कृति में चतुर्थी की रात ही दरअसल

***सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, सत्यवती कॉलेज (सांध्य) दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।**

सुहागरात होती है और इस खेल में ठीक सुहागरात के प्रथम प्रहर में विधवा पीसी का आ जाना उपन्यास में कौतूहल पैदा करता है और उपन्यास की शुरूआत इसी घटना से होती है। मैथिल समाज बेटियों को लेकर किस तरह की सोच रखता है, उसे नागार्जुन ने लगभग बेपर्दा किया है। अनमेल विवाह, बिकौआ प्रथा, बाल–विवाह, दहेज प्रथा, बहु विवाह प्रथा मिथिला के समाज की वास्तविक सच्चाई है। आभिजात्यता के भौंडे प्रदर्शन के भीतर छुपी हुई सामाजिक कुरीतियों को नागार्जुन ने अपनी औपन्यासिक यात्रा में लगभग बेपर्दा कर दिया है। 'पारो' मूलतः मैथिल ब्राह्मण परिवार की कथाओं, उपकथाओं और किंवदंतियों को अपने भीतर आत्मसात किया हुआ है। साथ ही मिथिला में साल दर साल पसरने वाली बीमारियाँ, अकाल, बाढ़, सुखाड़ के कारण जनमानस पर पड़ रहे उसके प्रभाव को भी नागार्जुन उल्लेखित करते हुए चूकते नहीं हैं। बीमारी के बाद पारो के पिता की मृत्यु हो जाने के बाद इकलौती पारो अलच्छी हो जाती है। वैसे भी बेटी जन्म को मिथिला में उत्साहपूर्वक मनाने की परंपरा नहीं है। बालपन की दहलीज लाँघती पारो को उसकी माँ के द्वारा कैसी उलाहना मिलती है। यहाँ द्रष्टव्य है। ''....पीसी ने देहली के पास सर झुकाए खड़ी पारो को लक्ष्य कर कहा– ऐ, पैरों में क्या जाता बँधे हैं। छुच्छी कहीं की। अब कौन बचा है, जिसे खाओगी।.... झाडू मारो करमजली को–''[4]

नागार्जुन इस उपन्यास में यह बतलाते हुए चलते हैं कि पारो उम्र से पहले यानि तेरहवें वर्ष में ही तिरासी साल की बुढ़िया की नाक काटती है। पारो नामक उपन्यास अपने कलेवर में कई विचित्र परिस्थितियों को भी समेटे हुए है। यहाँ यौनिकता के प्रश्न भी मुँह बाए हुए खड़ा हैं, उसकी नायिका पारो ब्रजकांत से प्रश्न करते हुए कहती है कि 'भाई बहन ही में यदि शादी होती तो कितना अच्छा होता। जहाँ–तहाँ के एक अनजान को जो लोग उठाकर लाते हैं। उसमें क्या अक्लमंदी है।'[5] 'उसमें क्या अक्लमंदी है?' यह ऐसा प्रश्न है, जिसके उत्तर खोजने में भारतीय हिन्दू समाज को आत्म–परीक्षण की लंबी कड़ियों से गुजरना पड़ेगा। मुझे लगता है कि मैथिल समाज अभी इतना समर्थ नहीं हो सका है कि इन मुद्दों पर बहस करे। पारो नामक उपन्यास का मूल थीम है– अनमेल विवाह। मैथिल समाज से आने वाले आदिकालीन कवि विद्यापति के यहाँ भी अनमेल विवाह का जिक्र कई अवसरों पर आता है। विद्यापति ने भी लिखा है– ''पिया मोर बालक हम तरूणी।''[6] हालांकि विवेच्य उपन्यास के पूर्व पक्ष में यौवन की दहलीज में प्रवेश कर रही पारो और ब्रजदांत के स्वाभाविक प्रेम का मनोविश्लेषणात्मक वर्णन अधिक है। पारो अपनी परिस्थितियों और भविष्य के अंधकारमय प्रश्नों का उत्तर ढूँढते निराशा में गाती हुइ आधी आबादी के दर्द को इस रूप में प्रस्तुत करती है– ''सखि हम करमक हीन,/कोन विधि खेपब दीन/कोन विधि खेपब राति/निट्ठूर पुरुषक जाति/कोन विधि काटब काल / हैत हमर की हाल।''[7]

नागार्जुन ने पारो के मार्फत यह कहलवाने में संकोच नहीं किया है कि ''निट्ठुर पुरुषक जाति'' अर्थात् पुरुष वर्चस्ववाद की आड़ में भारतीय स्त्रियाँ मुक्ति की आकांक्षी तो हैं लेकिन समाज की जकड़बंदी से मुक्ति इतना आसान नहीं है। मैथिल ब्राह्मण परिवार में 'बेटी–विवाह' की चिंता मुख्य विषय के रूप में आज भी विद्यमान है। पारो की माँ ने अपनी बेटी को अलच्छी मान लिया है। वह चाहती है कि किसी भी तरह उसका विवाह कर उस बोझ से मुक्ति पा ले। यही कारण है कि पारो की शादी एक पैंतालीस वर्ष के अधेड़ चुल्हाई चौधरी से कर दी जाती है। जिसकी पारो से पूर्व दो शादियाँ हो चुकी हैं और यह तीसरी शादी थी। ''उनकी इच्छा थी कि किसी तरह कहीं लड़की का ठौर ठिकाना अब लग ही जाए। पीसा के मरने बाद उनकी यह चिंता और बढ़ गई थी। बात–बात में वह पारो पर बिगड़ उठती थी। झाडू लेकर मारने दौड़ती थी।''[8] आमतौर पर मैथिल समाज की यही समझ है कि पति परमेश्वर होता है और यह शिक्षा उसे माँ की गोद से भी मिलनी शुरू हो जाती है। बेटियों को संस्कारित करने का दायित्व अमूमनतः माँओं के ऊपर ही होता है। नागार्जुन इन प्रसंगों पर कटाक्ष करते हुए लिखते हैं कि– ''उसके लिए जैसा पैंतीस वर्ष का वर वैसा ही पैंतालीस वर्ष का। लँगड़ा रहे या अंधा, लूला रहे या काना, कोढ़ी रहे या पगला, बूढ़ा हो या प्रौढ़ पति साक्षात परमेश्वर होता है। यही शिक्षा तो अपने यहाँ छुटपने से ही औरतों को मिलती है।''[9] दहेज प्रथा जैसी कुरीतियाँ भी एक समय में मैथिल

समाज का मुख्य हिस्सा बन गया था। सरकारी रिकॉर्ड के मुताबिक सलाना हजारों की संख्या में दहेज के कारण नववधुओं को मार दिया जाता था। दहेज चिंता या दहेज न दे पाने की स्थिति में लड़कियों के जन्म के तुरंत बाद अलग–अलग तरीकों से उन्हें मरने के लिए छोड़ दिया जाता था या मार दिया जाता था। आज के समाज में भी कमोवेश यह स्थिति बनी हुई है। हाँ अलग–अलग तरह के कई कानून बनने के बाद और जागृति के कारण परिस्थितियाँ बदली जरूर हैं। ''क्वारियों के लिए शादी एक तरह की वैतरणी हैं डर केवल इसी किनारे है प्राण की रक्षा उस पार जाने से ही संभव। वही तो पारो अब भुतही नहीं पार कर चुकी है।''[10]

मैथिल स्त्रियाँ अपने को स्वावलंबी बनाने खातिर तकली और सूत काटती हैं यह उनकी पुरानी परंपरा है। तकली और सूत से जनेऊ–निर्माण और खादी ग्रामोद्योग को वह सूत उपलब्ध करवाती हैं, जिससे थोड़ा बहुत धनोपार्जन होता है। मिथिला में वैधव्य जीवन जीने वाली महिलाओं के लिए तो यह बड़ा संबल होता है। नागार्जुन के उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' में भी चाची सूत और तकली काटती है। चाची का बेटा उमानाथ उन्हें सूत तकली नहीं काटने की धमकी देता है। वह कहता है कि– ''कड़ककर कहता चला गया कि चर्खा चलकार तूने दुनियाभर को बतला दिया– 'उमानाथ अवारा है, कलकत्ता में खुद तो मौज मारता है और घर पर माँ जुलाहिन हुई जा रही हैं खबरदार अब कभी चर्खा छुआ तो हाथ काट लूँगा...।''[11] लेकिन चाची सूत और तकली कातना छोड़ती नहीं है। 'पारो' उपन्यास में भी पीसी तकली कातकर धनोपार्जन करती है। ''थोड़ी देर चुप रहकर पीसी बोली– ''देखा है, बेटे देखा है। मगर इससे टकली और तकुआ हम लोग फेंक डालें, यह तो ठीक नहीं?''[12] पारो के विवाह के पश्चात् बिरजू जब पारो का हालचाल पूछता है तो वह बेहद असंतुष्ट और अनमनी सी है। उसका कारण यह है कि वह अपने अनमेल विवाह से असंतुष्ट है। बिरजू के भीतर का उसके प्रति अव्यक्त प्रेम हिलोरे मारता है। पारो कहती है– ''आपने यह क्या कहा बिरजू भैया, किसने मुझे क्या दिया है जो आपसे छिपाऊँ? मैंने उसी रात ज़हर खा लिया होता, लेकिन आपकी खातिर ही अपने को रोक लिया। आपने जो सभी बातों के संबंध में पूछा है सो मैं कौन सा महाभारत सुनाऊँ? हाँ अब बोझ उतर जाने से माँ का मन हल्का हो गया है, यह तो आप भी देखते ही होंगे।''[13]

पारो अपने अधेड़ पति को पति मानने के लिए तैयार नहीं है। वह पति पत्नी के संबंधों में भी संलग्न नहीं होना चाहती है– चूल्हाई चौधरी से। वह कहती है ''जिन्हें आप लोग चौधरी कहते हैं, उनसे मेरा सम्बन्ध ही क्या है? पति–पत्नी का संबंध? नहीं, हरगिज नहीं...।''[14] ''चतुर्थी के रात में दस रूपए के दस नोट मेरे आगे फैलाते हुए उन्होंने कहा था और चाहिए? क्रोध से मैं जलने लगी। हे भगवान। लाख देउ दे, मगर फिर औरत बनाकर इस देश में जन्म नहीं दे। छीया पैंतालीस वर्ष का नरपिशाच पर अबोध लड़की के सामने दस रूपयों के नोटों का ढेर इसलिए लगावे कि.....''[15] नागार्जुन पारो के जरिए स्त्री विद्रोह के संयत स्वर को चिह्नित किया है। बहुविवाह प्रथा के केन्द्र में पुत्र की चाहत और यौन–लिप्सा ही मुख्य कारण है। सभ्य और संलज्ज संस्कृति के भीतर के रहस्यों को नागार्जुन परत दर परत खोलते नजर आते हैं। हिन्दी उपन्यासों में इस तरह की कथाओं का अनावरण नागार्जुन पहली बार करते हैं। अज्ञेय या जैनेन्द्र जैसे उपन्यासकार इस कड़ी में बहुत बाद आते हैं। पारो का बिरजू के प्रति अतृप्त प्रेम जीवनपर्यंत बना रहता है। भाई बहन का रिश्ता तो केवल ऊपरी आवरण मात्र है। उसके अव्यक्त और अतृप्त प्रेम में एक खास तरह की मधुरता है। वह सिक्त होकर अपने विराम को हासिल करना चाहता है। यही जिद्द बिरजू को मधुश्रावणी में फिर से बुलाता है। बिरजू के केरवनिया (पारो के पैतृक गाँव) में रहते हुए ही पारो के अधेड़ पति चुल्हाई चौधरी पारो के साथ रात्रि में मेरिटल रेप करने की कोशिश करता है और इस घटना में पारो लहूलुहान होकर बेहोश हो जाती है। ''मन में और कुछ नहीं, एक ही बात रह रहकर आती थी कि जरूर चौधरी जी भुखाए से कोई उत्पात करने लगे होंगे। पारो ने मना किया होगा, बार–बार मना किया होगा। उन्होंने न माना होगा तब चौधरीजी अच्छे आदमी नहीं है देवता नहीं दानव हैं वे तब?''[16] ''मैं जंगली जीव हूँ भौंरे और यह गुलाब भी जंगल का ही है। इस कली के उपयोग का अधिकार केवल भौंरे को ही नहीं मुझे भी है। कली नहीं खिली रहेगी तो इसलिए छोड़ दूँगा।''[17] उपन्यासकार ने इन प्रसंगों में

सांकेतिक ढंग से सब कुछ कह दिया है। ''पारो उठकर बैठ गई। चारो ओर ठीक से देख लिया और तब साड़ी के उस हिस्से पर मेरा हाथ ले गई और जो दूर तक भींगा हुआ था। देह सिहर गई मेरी। ''यह क्या है?– पूछा/उसने कहा– खून/खून /हाँ खून।''[18] नियति का आदेश मानकर विरजू पारो से कहता है कि ''मत रोओ, दूसरी शादी तो अब नहीं ही न होगी। इनके साथ ही किसी तरह बीत जाए, बाबा कपिलेश्वर से मैं यही कामना करता हूँ।''[19] कुछ महीने बाद पारो, बिरजू का पत्र लिखते हुए पुनः आने को कहती है और पत्र में पूर्व की घटनाओं का जिक्र करते हुए वह लिखती है कि ''जोर जबर्दस्ती कोई किसी के शरीर पर ही केवल कर सकता है। मन पर कतई नहीं। वैसे आप ही कहिए कि जहाँ पचास वर्ष के वर की पत्नी पंद्रह साल की होती है, वहाँ सांमजस्य कैसे संभव है?

बिरजू पारो से मिलने उसके ससुराल पहुँचता है। उसी समय उसे मालूम होता है कि पारो गर्भवती है। नायक के मन में संतोष और असंतोष का मिश्रित भाव है। पारो भी उस बच्चे को स्वीकारना नहीं चाहती लेकिन परिस्थितियों के सामने अपने घुटने को टेक देती है। बिरजू के विदा होते समय पारो अपने अव्यक्त व अपरिभाषित प्रेम को व्यक्त करती है जिसमें उसकी पूरी वेदना फूट पड़ती है। ''पारो ने कसकर पकड़ लिए दोनों पैर। आकुल स्वर में बोली – नहीं आज मैं कहाँ मानूँगी? ऐसा आशीर्वाद मुझे दिए जाइए बिरजू भैया कि अगले जन्म में यह नर्क न भोगना पड़े। मेरे और आपके बीच ममेरे–फुफेरे का संबंध नहीं, उस जन्म में मैं और आप... ।''[20] उपन्यास के बिल्कुल अंत में 'पारो के असमय मृत्यु की सूचना उपन्यासकार देता है। अतृप्त प्रेम और नियति के प्रहार को सहते हुए पारो परिस्थितियों के सामने अपना सबकुछ उत्सर्ग कर देती है। बिरजू के प्रेम में जीवनपर्यंत पारो तड़फडाते हुए अपनी यात्रा को विराम देती है और अंत में बिरजू के हाथ ही उसका अंतिम संस्कार होता है। ''कहाँ मालूम था कि पारो का दाह संस्कार भी मुझे ही करना पड़ेगा। ओह...''[21]

समग्रतः हम यह देखते हैं कि नागार्जुन ने केरबनिया गाँव को एक प्रतीक मानकर पूरे भारत की वह त्रासद तस्वीर खींची है, जहाँ औरते अपनी मुक्ति के लिए अभी भी संघर्षरत है। पुरुष वर्चस्ववाद, पाखण्डवाद और संस्कृतियों की आड़ में औरतों के ऊपर हो रहे जुल्म इस बात की पैरवी करते हैं। पारो केवल नागार्जुन की नायिका मात्र नहीं है वह हिन्दुस्तान की आम औरतों की कथा सुनाती है। यह उपन्यास मनोवैज्ञानिक स्तर पर जितनी सघनता में बुनी गई है उतनी ही रोचक व सपाट ढंग से अपने कथा–सूत्र को भी विस्तार देती है। इस रूप में नागार्जुन एक ऐसे उपन्यासकार के रूप में हमारे सामने आते हैं जिनमें प्रेमचंद से लेकर अज्ञेय और जैनेन्द्र के सभी शिल्प मौजूद हैं।

संदर्भ–सूची :–

1. शोभाकांत : नागार्जुन रचनावली, भाग–4, राजकमल प्रकाशन, सं. 2011, पृ. आमुख से।
2. नेमिचंद्र : अधूरे साक्षात्कार, वाणी प्रकाशन, 1989 ई., पृ. 138।
3. शोभाकांत : नागार्जुन रचनावली, भाग–4, पृ. 530।
4. वही, पृ. 534
5. वही, पृ. 534
6. वही, पृ. 537
7. वही, पृ. 534
8. वही, पृ. 540
9. वही, पृ. 540
10. वही, पृ. 544
11. वही, पृ. 54
12. वही, पृ. 546
13. वही, पृ. 546
14. वही, पृ. 546
15. वही, पृ. 549
16. वही, पृ. 560
17. वही, पृ. 561
18. वही, पृ. 561
19. वही, पृ. 563
20. वही, पृ. 568
21. वही, पृ. 568

ꕥ★ꕥ

हिन्दी आलोचना को प्रभाकर श्रोत्रिय का प्रदेय

डॉ. आनन्द कुमार*

सुधा देवी**

हिन्दी साहित्य में आलोचना की एक सुदीर्घ परंपरा रही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से लेकर डॉ. नामवर सिंह तक। इसी परंपरा में चलकर एक तटस्थ आलोचक के रूप में प्रभाकर श्रेत्रिय जी का नाम आता है। उनके आलोच्य पद्धति के विषय डॉ. उर्मिला शिरीष ने उन्हे आलोचना की तीसरी परंपरा का वाहक बतलाया। डॉ. उर्मिला शिरीष ने अपनी पुस्तक आलोचना की तीसरी परंपरा में लिखती है– डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय जी ने प्रचलित आलोच्य पद्धतियों से हटकर भारतीय तथा पश्चिमी आलोचना के सारभूत तत्वों को ग्रहण करने के साथ ही हिन्दी की सर्जना और चेतना को केन्द्र में रखकर अत्यन्त परिश्रम और दृष्टि सम्पन्नता से हिन्दी की अपनी आलोचना पद्धति का निर्माण किया है जिसके माध्यम से हिन्दी साहित्य का अपने देशकाल में समुचित मुल्यांकन किया जा सके। अपनी व्यावहारिक आलोचना पद्धति के द्वारा उन्होने इस आलोचना पद्धति को प्रमाणित भी किया है। यह कहना अतिश्योंक्तिपूर्ण न होगा कि उनकी यह आलोचना दृष्टि उस तीसरी परंपरा को स्थापित करती है जिसका अपना स्वतंत्र विवेक और मूल्य दृष्टि है।[1]

प्रभाकर श्रोत्रिय जी मुख्य रूप से काव्य आलोचक थे। अपनी आलोचना का आधार उन्होने काव्य को बनाया। अपनी काव्यालोचना दृष्टि के सम्बंध में वह अपने निकटस्थ कवि एवं आलोचक ओम निश्चल जी के यह पूंछे जाने पर कि कवि और कविता को लेकर उनकी प्राथमिकता क्या है? वह बताते है– ''श्रेष्ठ कवि का चयन मैं वाद को सामने रखकर नहीं कविता की श्रेष्ठता को सामने रखकर करता हूँ। काव्य मूल्य दरअसल अपने उच्चतर अर्थों में हमारे जीवन मूल्य की संवेदनात्मक और मार्मिक प्रतीति है, आत्मसाक्षात्कार है। शब्द और अर्थ के गहरे सयोंजन में कविता संवेदन, अन्तर्दृष्टि, सौन्दर्यबोध, रसबोध, कला समय और समाजबोध उत्पन्न करती है जो हमारे सामने हर समय नये संदर्भो में नवीनता प्राप्त करता है। यही कारण है कविता समय और देश की भूमि को अतिक्रान्त करती है।[2]कवि एवं कविता सम्बंधी उपर्युक्त आलोच्य दृष्टि प्रभाकर श्रोत्रिय जी का हिन्दी आलोचक के रूप में महत्वपूर्ण प्रदेय है। क्या आलोचक को अपनी आलोचना को सर्जनात्मक आस्वाद में बदल देने का आकांक्षी होना चाहिए? इस के उत्तर में वह स्वयं अपनी आलोचना दृष्टि को स्पष्ट करते हुए बोलते हैं– ''तो क्या आलोचना को रूखा–सूखा मस्तिष्क का व्यायाम होना चाहिये? आखिर आलोचना साहित्य की एक विधा है। कविराज विश्वनाथ ने लिखा कि कविता के जो उद्देश्य होते है, वे शास्त्र या आलोचना के भी होते है। सिद्धान्तो के उदाहरण स्वरूप संस्कृत आचार्यों ने काव्य से प्रायः सरस पंक्तियॉ चुनकर रखी क्योंकि वे शास्त्र को सरस बनाना चाहते थे। कविता और आलोचना अपने आस्वादनीय प्रयोजन को भिन्न रूप से पूरा करती है। कविता के मर्म में पैठकर आलोचना उसकी आस्वादनीयता को अधिक संप्रेषणीय बनाती है। वह भाषा की परते खोलती है। अनुभूति कथ्य को स्पष्ट करती है। कविता में निहित अंतःअर्थ और आयामों को अपनी दृष्टि से जांचती परखती है और उन विसंगतियों पर उंगली रखती है जो उसकी समझ से कविता को नुकसान पहुँचाती है। कविता और आलोचना दोनो ही पाठक को निवेदित हैं। कवि रचना करता है उसका रस या मर्म पण्डित या आलोचक समझता है।[3] कविता के सम्बंध में उपर्युक्त अवधारणा उनका हिन्दी आलोचना को महत्वपूर्ण प्रदेय है।

प्रभाकर श्रोत्रिय जी की आलोचना के प्रतिमानों को बताने वाली उनकी एक महत्वपूर्ण पुस्तक है– 'कविता की तीसरी आँख'। इस पुस्तक के माध्यम से श्रोत्रिय जी ने पूरब और पश्चिम की काव्य परंपराओं में प्रवेश करके नये काव्य मानदण्डों को स्थापित किया है। श्रोत्रिय जी की एक आलोचक के रूप में महत्वपूर्ण देन यह है कि वह किसी रूढ़िजड़ता और पिछड़ेपन से दूर रहे। इस सम्बंध में अरविन्द त्रिपाठी लिखते है– ''यह श्रोत्रिय जी की आलोचना की सजगता ही कही जायेगी वे परंपरा की खोज करते हुए परंपरा के नाम पर रूढ़ियों, जड़ताओं और पिछड़ेपन को बहुत चौकन्नी निगाह से अलग कर देते हैं भारतीय काव्यशास्त्र की मीमांसा करते हुए वे उन्ही तत्वों को स्वीकार करने की पेशकश करतें है,

---

*** असि.प्रोफेसर, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, हमीरपुर।**

**** शोध छात्रा, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।**

जो नये काव्य के लिए अभीष्ट है।[4] इसी तरह वे परंपरा और शास्त्रीयता को भी अलग दृष्टि से व्याख्यायित करते हैं। परंपरा की व्याख्या करते हुए उनका मानना है कि, असल में परंपरा अगतिक और जड़ नहीं है, टूटने और जुड़ने के लगातार लम्बे सिलसिले का नाम परंपरा है। उसे हर युग में नये रूप और संदर्भ में परिभाषित करना होता है। एक हद तक उससे संघर्ष और विद्रोह भी करना होता है। नये तत्वों का समावेश उसे नवीनीकृत करता है इसलिए यह जानना जरूरी है कि परंपरा कैसे विकसित होती है।[5] कालयात्री है कविता आलोचना पुस्तक में उन्होंने 12 अध्यायों के माध्यम से हिन्दी कविता का इतिहास लिखने का तो उद्यम नहीं किया अपितु इस आलोचनात्मक विवेचन में काव्य की अंतप्रवृत्यिों तत्वों और अभिप्रायों को रेखांकित करने की कोशिश अवश्य की। यह आलोचना पुस्तक हिन्दी कविता : इतिहास के पुनर्लेखन के पहल से लेकर आधुनिक कविता, नयी कविता, कविता का सातवां–आठवां दशक, नवां दशक लम्बी कविता व हिन्दी नवगीत तक लम्बी यात्रा को जिस प्रकार विवेचित करती है, उससे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है आलोचना मात्र किसी रचना की जाँच पड़ताल या छानबीन नहीं है, अपितु वह भी रचना है और उसका भी अपना एक सौंदर्य शास्त्र है। सिद्धों और नाथों की कविताओं के संदर्भ में उनका यह कहना है कि ''सिद्धों और नाथों की बानियों में चाहे जितनी पारलौकिकता और आध्यात्मिकता हो, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि उन्होंने समाज की स्थापित रूढ़ियों और मेखलाओं को तोड़ने में जिस कठोर भाषा–चरित्र का प्रमाण दिया, वह उनके प्रखर आक्रोश का ही नहीं, उनके अकलुष जन–प्रेम का प्रतीक भी है। क्या ऐसे सृजन पर साम्प्रदायिकता की मुहर लगाकर उसे काव्य–क्षेत्र से बहिष्कृत कर देना इतिहासकारों का अन्याय नहीं है? इनकी अपेक्षा चारणों और भाटों को जन भाषा के आदिकवियों का सम्मान देना, पता नहीं कौन सी 'लोक मंगलधर्मी' इतिहास–दृष्टि है? निस्संदेह भाट कवि झनझनाती कविताएँ लिखते थे लेकिन इन कविताओं में युद्ध का आवेश है, युद्ध का विवेक नहीं।''[6]

'रचना एक यातना है' आलोचना पुस्तक में श्रोत्रिय जी की आलोचना की प्रगाढ़ दृष्टि के दर्शन होते है। प्रख्यात आलोचक रमेश दवे जी उनकी आलोचना दृष्टि के संदर्भ में कहते है– ''श्रोत्रिय जी मुख्य रूप से काव्य आलोचक है। काव्यगत उनकी दृष्टि अत्यन्त स्पष्ट है। विशेषकर जब वे नई कविता की आलोचना में उतरते है तो लगता है कि हिन्दी कविता का वे अपना ही एक काव्यशास्त्र विकसित कर रहे हैं। रचना यदि यातना है तो ऐसा रवीन्द्रनाथ ने भी सोचा था लेकिन रचना की यातना समय या काव्यात्मक, माध्यम या भाषा और काव्यगत रूपों में कितनी प्रासंगिक और कितनी महत्वपूर्ण है, यह स्थापना श्रोत्रिय जी रचना के माध्यम से ही करते है। वे स्वयं से स्वयं की यात्रा न करके पर से पर तक स्वयं को ले पाते है। एक आलोचक का 'स्वयं' या 'पर' दोनों जब रचना में प्रविष्ट होता है तो वह रचना के आंतरिक यातना तत्वों की पड़ताल कर पाता है, उसके विचारगत द्वन्द्वो उसके शिल्पगत तनावों और उसके चेतना एवं संवेदनगत मनोभावों का अन्वेषण भी कर लेता है। श्रोत्रिय जी की आलोचना इसलिए प्रतिपुष्टि या प्रमाणीकरण की आलोचना न होकर रचना के अन्वेषण और अनुशीलन की आलोचना है।[7] श्रोत्रिय जी की एक महत्वपूर्ण आलोचना पुस्तक है– ''अतीत के हंस : मैथिलीशरण गुप्त।'' जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट होता है कि कवि मैथिलीशरण गुप्त अतीत के हंस है, पारंपरिक नहीं। डॉ. रेवती रमण जी इस संदर्भ में लिखते है– ''अतीत के हंस : मैथिलीशरण गुप्त एक ऐसी कृति है जिसमें पहली बार शुद्ध कवित्व के धरातल पर गुप्त जी के काव्य का विवेचन हुआ है। जिन अर्थो में प्रो0 विजयदेव नारायण साही जी जायसी को प्रोड्यूस करते है उन्ही अर्थो में श्रोत्रिय जी ''अतीत के हंस'' लिखते है।[8] प्रभाकर श्रोत्रिय जी मैथिलीशरण गुप्त जी की कविता के संदर्भ में लिखते है– ''तुलसी की विनयपत्रिका का जिस प्रकार तुलसी साहित्य में विशिष्ट स्थान है उसी प्रकार पंचवटी का गुप्त जी के साहित्य में। यह गुप्त जी की स्वछंद और महीन काव्यचेतना का सांकेतिक पदचिह्न है जिसमें इतिवृतात्मकता, वर्णनबहुलता, स्थूल आदर्शवादिता, भाषा का क्लिष्ट या सपाट तानाबाना, प्रत्यक्ष क्रिया–व्यापार बहुत कुछ अदृश्य या जरूरत भर को रह गया है। यहाँ उनका कवित्व जिस तरह प्रसन्न, चंचल और संसिक्त है, उससे उसके मूल रूझानों को समझने कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।''[9] प्रभाकर श्रोत्रिय जी का हिन्दी साहित्य के लिए जो महत्वपूर्ण प्रदेय है उसमें से है कवि नरेश मेहता जी को एक प्रकृत व आरण्यक कवि के रूप में स्थापित करना। वह लिखते है कि भारत की ऋषि परम्परा वनवासी रही है, गुरुकुल वनों में होते थे, प्रायः सभी मूल्यवान ग्रंथ, विचार– ज्ञान राशि और काव्य का जन्म 'अरण्य' में हुआ है। इसलिए 'अरण्य' 'जंगल' नहीं भारत की बौद्धिक अस्मिता, चैतन्य और क्रांतिदर्शिता की तपोभूमि है। अस्तु, नरेश के यहाँ इसकी वस्तु सत्ता ही नहीं प्रतीक सत्ता भी है।[10]

'भारत में महाभारत' आलोचना पुस्तक आपकी महत्वपूर्ण समीक्षा पुस्तक है जिसके संदर्भ में वह लिखते हैं कि 'महाभारत के अध्ययन से प्रतीत होता है कि उसका कथ्य सतह पर नहीं है, कहीं गहरे में है। महाभारत को धर्मग्रंथ तो

कहा जाता है पर वह धर्मग्रन्थ नहीं है— उस अथ में तो कतई नहीं जिसमें 'धर्म' को समझा जाता है, उल्टे इसका धर्म—विवेचन कई बार रूढ़ धर्मशास्त्रीय धारणा को ध्वस्त कर देता है। यह बात हम विषय—वस्तु में, चरित्र—निरूपण में, उपाख्यानों में और अनेक प्रसंगों—संदर्भों में देखते हैं। महाभारत के अंत में स्वयं व्यास अपने लिए बनाए गए मिथ को तोड़ देते हैं— यह कहकर कि धर्म—दर्शन सब गुह्य और उलझे हुए हैं, मनुष्य से बढ़कर कहीं कुछ नहीं है— 'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित् ।'— यानी मानव—कल्याण धर्म का सार है। इस अर्थ में महाभारत धर्म की कविता नहीं, मानवता का महाकाव्य है।[11] अपनी आलोचना पुस्तक 'कवि परम्परा : तुलसी से त्रिलोचन तक' में श्रोत्रिय जी ने तुलसी से लेकर के त्रिलोचन तक अर्थात भक्तिकाल से लेकर के आधुनिक काल के प्रमुख कवियों की विशेषताओं का विश्लेषण एवं विवेचन किया है। वह भक्तिकाल के संदर्भ में विचार करते हुए लिखते हैं ''अगर समग्रता से देखे तो यह साफ हो जाता है कि पूरा भक्ति—साहित्य लोक—साहित्य है, जन—साहित्य है। कृष्ण भक्ति—कविता भी भक्तियुग की इसी बहुलतावादी संस्कृति की सामूहिक सर्जना है। कितनी जाति के लोग इसमें शिरकत कर रहे थे?— जो परस्पर विजातीय और निम्न जाति वर्ग के थे। रसखान और रहीम मुसलमान थे, कृष्णदास शूद्र थे और निम्न कुंभनदास, चतुर्भुजदास किसान थे, खुद खेती करते थे। यहाँ तक कि सूर की जाति भी निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती। कुछ लोग जाट मानते हैं तो कुछ का कहना है कि कम से कम वे ब्राम्हण तो नहीं ही थे। जो हो, सूर में उच्च जाति में जन्म न लेने के बावजूद उन्हें वर्गविहीन सिद्ध कर सकती है, क्योंकि जनमतः कोई कुछ भी हो, मूल प्रश्न है कि वह अपने को कहाँ जोड़ता है और क्या आचरण करता है?[12] श्रोत्रिय जी ने कृष्ण साहित्य को स्त्री को समर्पित साहित्य माना है। वह अपनी पुस्तक कवि परम्परा में लिखते हैं— यों कृष्ण साहित्य स्त्री को समर्पित साहित्य है, यहाँ तक कि वह स्त्री—आराधना का साहित्य है। कृष्ण—मार्ग में राधा की मुख्य उपासना होती है। परंतु इस साहित्य की प्रतिनिधि मीरा ही है। मीरा के काव्य से स्त्री—काव्य की तीखी सुगंध आती है। यह उसे भक्तिकाल के अन्य कवियों से अलग करती है। यमुना के किनारे प्रेमलीला के प्रसंग पुराणों से साहित्य तक भरे पड़े हैं, पर किसी ने यमुना को प्रेमनदी नहीं कहा सिवाय मीरा के, क्योंकि वह कविता ही नहीं कर रही थी, प्रेम कर रही थी। जो प्रेम करता है , उसके लिए वह स्थान, वह हवा, वह नदी—सभी प्रेममय हो जाते है। यही तो कविता का विभावन व्यापार है।[13]

आलोचना के प्रदेय के रूप में निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है, यदि रामचन्द्र शुक्ल जी ने गोस्वामी तुलसीदास जी युग के सदर्भ में रखकर जाँचा परखा और उन्हे लोकमंगलवादी कवि के रूप में व उनकी कविता को लोकमंगल से जोड़ा। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने कवीर को स्थापित किया। नंददुलारे वाजपेयी जी ने छायावाद को मानवीय सांस्कृतिक के रूप में व्याख्यायित किया। डॉ. नगेन्द्र ने सुमित्रानन्दनपन्त को स्थापित किया जिसके लिए शुक्ल जी ने उनकी इस पुस्तक को ठीक ठिकाने की पुस्तक कहा। राम विलास शर्मा जी ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द्र और निराला का लगभग पुनर्लेख ही किया। डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय जी भी आलोचना में उसी परंपरा की कड़ी के रूप में आते है। एक आलोचक के रूप में उन्होनें मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, शिवमंगल सिंह सुमन, नरेश मेहता, शमशेर, व वीरेन्द्र कुमार जैन के प्रोड्यूसर कहे जायेगें।

संदर्भ—सूची :—

1. आलोचना की तीसरी परम्परा— सम्पादक : उर्मिला शिरीष, भूमिका से, नेशनल पब्लिशिंग हाउस प्रथम संस्करण 2006, पृष्ठ सं0 11।
2. मति का धीर : प्रभाकर श्रोत्रिय : ओम निश्चल— समालोचन ई—मैग्जीन
3. मति का धीर— प्रभाकर श्रेत्रीय— ओंम निश्चल— समालोचन— ई पत्रिका?
4. आलोचना की तीसरी परंपरा—110।
5. कविता तीसरी आंख— प्रभाकर श्रोत्रिय पृष्ठ सं0— 02
6. काल यात्री है कविता— प्रभाकर श्रोत्रिय— पृष्ठ सं0— 28—29
7. आलोचना की तीसरी परंपरा— पृष्ठ 103।
8. डॉ. श्रोत्रीय जी का आलोचना कर्म, आलोचना सिद्धान्त और व्यवहारिक आलोचना— रेवती रमण, पृष्ठ— 167।
9. अतीत के हंस : मैथिली शरण गुप्त पृष्ठ— 86 (नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली 1988)
10. नरेश मेहता रचना संचयन— संपादक प्रभाकर श्रोत्रिय, (साहित्य अकादमी प्रथम संस्करण 2015) पृष्ठ सं0— 17।
11. भारत में महाभारत — प्रभाकर श्रोत्रिय — पृष्ठ सं0 — 09 (भारतीय ज्ञानपीठ तीसरा संस्करण 2016)
12. कवि परंपरा : तुलसी से त्रिलोचन — प्रभाकर श्रोत्रिय, पृष्ठ सं0 41 (भारतीय ज्ञानपीठ पांचवा संस्करण 2018)
13. वही पृष्ठ सं0 48

आधुनिक काल में हिन्दी गीतकाव्य का विकास

मोहन कुमार*

सारांश :– गीत की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। सभ्यता के विकास के साथ–साथ गीतों का विकास होता दिखाई पड़ता है। गीत मनुष्य की स्वाभाविक और सहज वृत्ति है। वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक गीत मानव जनजीवन में उपस्थित रहा है। प्रकृति और लोक जीवन से गीतों का सीधा जुड़ाव होता है। हिंदी साहित्य में गीत अर्थात गीतकाव्य की एक समृद्ध और सुदीर्घ परंपरा विद्यमान है। कालिदास से लेकर आदिकाल और भक्तिकाल में अमीर खुसरो,विद्यापति, जयदेव, कबीर, सूर, तुलसी और मीराबाई तक की कविताओं में गीतकाव्य की उपस्थिति को देखा जा सकता है। आधुनिक काल हिन्दी गीतकाव्य का स्वर्ण काल है। आधुनिक काल में हिंदी गीत काव्य का व्यापक उत्कर्ष हुआ। प्रस्तुत शोध आलेख में भारतेंदु युग, द्विवेदी युग, छायावाद युग और छायावादोत्तर युग में हिंदी गीत काव्य के विकास का अध्ययन और वर्णन विश्लेषण किया गया है।

बीज शब्द– आधुनिक गीतकाव्य, गीतों में प्रेम, करूणा एवं विरह, राष्ट्रीय भाव, समन्वय, वैयक्तिकता, लोकप्रियता, बदलाव।

आलेख– आदिकाल से चली आ रही हिंदी गीतकाव्य की धारा रीतिकाल में आकर मंद हो गई। रीतिकाल में हिंदी गीतकाव्य का समुचित विकास नहीं हो सका। रीतिकाल में मंद पड़ चुकी हिंदी गीतकाव्य की धारा को भारतेंदुयुग में नया जीवन मिला। आधुनिक युग में हिंदी काव्य के क्षेत्र में भारतेंदु के उदय के साथ हिंदी गीतकाव्य का भी पुनरोदय और पुनरुद्धार हुआ। भारतेंदु युग में सामाजिक और राष्ट्रीय भावों से संपन्न अच्छे–अच्छे गीत लिखे गए। भारतेंदु हरिश्चंद्र और सत्यनारायण कविरत्न ने ब्रजभाषा पद शैली में राधा–कृष्ण की प्रेमानुभूति से संपन्न गीतों की रचना की। वियोगी हरि ने भी बहुत से सुंदर गेय पदों की रचना की। गीत–रचना की दृष्टि से भारतेंदु की कई रचनाएं महत्वपूर्ण हैं, जिनमें मधुमुकुल, प्रेम–मलिका, प्रेम–प्रलाप, वर्षा–विनोद आदि प्रमुख हैं। भारतेंदु–युग के नाटकों का गीतकाव्य की दृष्टि से विशेष महत्व है। भारतेंदु के नाटक नीलदेवी, भारत–दुर्दशा, चंद्रावली तथा प्रताप नारायण मिश्र के उषाहरण आदि नाटक गीतकाव्य की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इनमें विभिन्न विषयों और भावों से संबंधित गीत मिलते हैं। भारतेंदु के भक्तिपरक गीतों में गीतकाव्य के सभी तत्व पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। विषय की दृष्टि से भारतेंदु ने अपने गीतों में भक्तिकालीन और तत्कालीन विषयों का समावेश किया है। भारतेंदुयुगीन गीतों में कलागीतों के साथ लोकगीतों के समन्वय का महत्वपूर्ण प्रयास दिखाई पड़ता है। भारतेंदु के गीतों का साहित्यिक महत्व तो है ही, साथ ही उनका लोकव्यापी प्रभाव भी बहुत व्यापक है। वस्तुतः भारतेंदु ने लोकगीतों को साहित्यिक रूप देने का कार्य किया। स्वयं भारतेंदु के गीतों में वियोग की करुण व्यंजना हुई है। तथा उनमें लोकजीवन में रस का संचार करने वाली ठुमरी, कजरी, बारहमासा, फाग, चौती आदि प्रगीतात्मक पदों में प्रेम की मधुर व्यंजना हुई है। भारतेंदु अपने युग के सबसे श्रेष्ठ गीतकार थे। भगवत भक्ति के साथ–साथ राष्ट्रभक्ति के गीत भी भारतेंदु युग में लिखे गए। स्वयं भारतेंदु ने राष्ट्रभक्ति से संपन्न कई महत्वपूर्ण गीत लिखे हैं। उनके प्रसिद्ध नाटक भारत–दुर्दशा का यह प्रसिद्ध गीत दृष्टव्य है–

''अंगरेजराज सुख साज सजे सब भारी। पै धन बिदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।।
रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई। हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई।।''[1]

***शोधार्थी हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी मो. 7839045007**

भारतेंदु युग में हिंदी गीतकाव्य आधुनिक स्वरूप धारण करती है। जनसाधारण से गीत का जुड़ाव इस युग में शुरू होता है। आधुनिक राष्ट्रीय चेतना का विकास भी हिंदी गीतों में भारतेंदु युग में ही हुआ। पराधीनता की बेड़ी में जकड़े हमारे देश की दारुण अवस्था का चित्रण इस युग के गीतों में हुआ है। दुःख के सागर में डूबे भारत देश और वहां की जनता की करुण पुकार भारतेंदु युगीन गीतकाव्य में अभिव्यक्त हुई है–

''कोई नहिं पकरत मेरो हाथ।
बीस कोटि सुत होत फिरत मैं हा हा होय अनाथ।।
जाकी सरन गहत सोई मारत सुनत न कोऊ दुखगाथ।
दीन बन्यौ इत सों उत डोलत टकरावत निज माथ।।
दिन–दिन बिपति बढ़त सुख छीजत देत कोऊ नहिं साथ।
सब विधि दुःख सागर मैं डूबत धाइ उबारौ नाथ।।''[2]

भारतेंदु युग में गीत लेखन के पुराने विषय भक्ति, ज्ञान आदि में नवीन विषयों राष्ट्रप्रेम, देशदशा–वर्णन आदि शामिल हुए। गीत रचना की दृष्टि से भारतेंदु युग समृद्ध दिखाई पड़ता है। भारतेंदु युग के गीत आधुनिक भारतीय समाज में राष्ट्रीयता के भाव को जागृत करने वाले गीत हैं। इस दृष्टिकोण से भी भारतेंदु युगीन गीतों का महत्व बढ़ जाता है। भारतेंदु के अलावा इस युग में बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन. प्रताप नारायण मिश्र, बालमुकुंद गुप्त आदि कवियों ने गीत काव्य के क्षेत्र में अपना उल्लेखनीय योगदान दिया। प्रेमघन जी ने मिर्जापुर में प्रचलित कजरियों का संग्रह कजली कादंबिनी नाम से प्रकाशित किया था। प्रताप नारायण मिश्र अपने पत्र ब्राह्मण में लोकधुनों में लिखे गीत छपाया करते थे। इसी प्रकार, बालमुकुंद गुप्त के पत्र भारतमित्र में भी होली, फाग, जोगीरा, खेमटा आदि लोकधुनों पर रचित गीत प्रकाशित होते थे। 'स्फुट कविता नामक संग्रह ऐसे ही गीतों का संग्रह है।'[3]

भारतेंदु युग में हिंदी समाज और साहित्य में नवजागरण और सही अर्थों में आधुनिकता का प्रवेश होता है। इससे जहां साहित्य में पुरानी प्रवृत्तियों का अवसान होता है वहीं नई प्रवृत्तियों का आगमन भी होता है। इसलिए भारतेंदु युगीन काव्य अपनी विशेष प्रवृत्तियों और विशिष्ट समय के कारण और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। हिंदी काव्य का जनता से जो संबंध भक्ति काल में था वह रीतिकाल में टूट गया था। भारतेंदु युग में आकर ही हिंदी काव्य पुनः समाज से जुड़ती है। जिसका प्रभाव इस इस कालखंड में रचे गये गीतों में भी दिखाई पड़ता है।

पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर सन् 1900– 1920 ई. तक के दो दशकों के समय को हिंदी साहित्य में द्विवेदी युग के नाम से जाना जाता है। पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने लंबे समय तक सरस्वती पत्रिका के संपादक के रूप में हिंदी साहित्य को समृद्ध करने का कार्य किया। उस दौरान सरस्वती पत्रिका में बहुत से कवियों के गीत छपे। सरस्वती उस समय हिंदी साहित्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण पत्रिका थी और महावीर प्रसाद द्विवेदी सबसे बड़े संपादक। अतः 'हिंदी गीतकाव्य के विकास में सरस्वती पत्रिका और उनके संपादक प्रसाद द्विवेदी का महत्वपूर्ण योगदान है।'[4] द्विवेदी युग में हिंदी कविता श्रृंगारिकता से राष्ट्रीयता, जड़ता से प्रगति तथा रुढ़ी से स्वच्छंदता की ओर अग्रसर हुई। इसका प्रभाव हिंदी गीतों पर भी पड़ा। यद्यपि रचना–विधान की दृष्टि से द्विवेदी युग में गीतिकाव्य का नहीं अपितु प्रबंधकाव्य का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है तथापि इस युग के कवियों ने बहुत से सुंदर गीतों–प्रगीतों की भी रचना की। रविंद्रनाथ टैगोर की रचना 'गीतांजलि' के गीत इसी युग में प्रकाशित हुए। टैगोर के इन गीतों के हिंदी अनुवाद ने हिंदी गीत–प्रेमियों के बीच अपार लोकप्रियता अर्जित की। हिंदी में प्रोफेसर बद्रीनारायण भट्ट ने सन् 1912 ई.के आसपास कई गीत लिखे। उनके 'प्रार्थना' शीर्षक गीत में भक्ति–भावना के साथ राष्ट्रीयता की भावना की भी सुंदर अभिव्यक्ति हुई है। निराला के प्रसिद्ध 'वीणा वादिनी वर दे' शीर्षक गीत पर भट्टजी के इस गीत की शैली का प्रभाव दिखाई पड़ता है।''[5] बद्रीनारायण

भट्ट के 'सोने वाले जाग–जाग' तथा 'अब तो आंखें खोलो' जैसे गीत राष्ट्रीय उद्बोधन के अच्छे गीत हैं। इस युग में स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कई अच्छे गीत लिखे। उनके गीत द्विवेदी काव्यमाला में संकलित हैं। उनके 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं, 'भारतवर्ष, टेसू की टांग, 'महिला परिषद के प्रति' तथा 'मेरे प्यारे हिंदुस्तान' जैसे गीत अत्यंत प्रसिद्ध हुए। उनके अलावा इस युग में मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडे, बद्रीनारायण भट्ट, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, श्रीधर पाठक, गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही', सोहनलाल द्विवेदी आदि कवियों ने अनेक अच्छे गीतों की रचना की। मैथिलीशरण गुप्त की रचना भारत–भारती, किसान, रंग में भंग, जयद्रथ वध आदि में अच्छे गीत मिलते हैं। मैथिलीशरण गुप्त की भारत–भारती के पद तो अत्यंत लोकप्रिय हुए। प्रभात फेरिओं, राष्ट्रीय आंदोलनों, शिक्षण–संस्थानों, प्रातःकालीन प्रार्थना आदि में भारत–भारती के पद नगरों से लेकर गांवों तक में गाए जाते थे। भारत के गौरवपूर्ण अतीत और वर्तमान की दुर्दशा का उल्लेख करता भारत–भारती का यह पद बहुत ही लोकप्रिय हुआ था–

> ''हम कौन थे, क्या हो गये हैं, और क्या होंगे अभी,
> आओ, विचारें आज मिलकर, ये समस्याएं सभी।''[6]

मुकुटधर पांडे का गीत 'खिला है नया फुल उपवन में' प्रकृति चित्रण के अत्यंत मनोरम दृश्यों से भरा हैं। श्रीधर पाठक की रचना 'भारतगीत' राष्ट्रप्रेम और राष्ट्रीयता की भावना से भरा हुआ गीत है। भारतमाता के अभिनंदन, अतीत का गौरवगान और भविष्य के निर्माण की प्रेरणाओं से पुष्ट यह गीत अत्यंत मार्मिक है। दिवेदी युगीन हिंदी गीत काव्य के विकास में कवि रामनरेश त्रिपाठी जी का महत्वपूर्ण योगदान है। मिलन, पथिक, मानसी, स्वप्न आदि उनके काव्य संग्रह हैं, जिनमें गीतात्मक अभिव्यक्तियां दिखाई पड़ती हैं। उन्होंने 'कविता कौमुदी' शीर्षक से छह भागों में ग्रामगीतों के संकलन का अत्यंत ही महत्वपूर्ण कार्य पूर्ण किया। वे सोलह वर्षों तक गांव–गांव, घर–घर घूम घूमकर रात–रातभर घरों के पिछवाड़े पिछवाड़े बैठकर सोहर और विवाह गीतों को चुन चुन कर अथक परिश्रम से संकलित करते रहें। ग्रामगीतों का संकलन करने वाले वे हिंदी के पहले कवि हुए। द्विवेदीयुग गीतकाव्य की दृष्टि से संपन्न रहा है। उपरोक्त कवियों के अलावा इस युग में गिरधर शर्मा (राष्ट्रीय गीत), गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' (पुष्करिणी), रामचरित उपाध्याय (पंचदूत, कन्हैया), रूप नारायण पांडेय (वन विहंगम, वर्ण–व्यवस्था की आलोचना), अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (जुगनू, पद्य–प्रसून), राय देवी प्रसाद 'पूर्ण' (आल्हा) आदि कवियों की रचनाएं गीत काव्य की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

हिंदी गीतकाव्य की दृष्टि से छायावाद का काल अत्यंत महत्वपूर्ण है। छायावाद का समय सामान्यतः 1920 से 1936 ई. तक माना जाता है। द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया में और सामयिक संदर्भों के परिणामस्वरूप छायावादी कविता का दौर निर्मित हुआ। छायावादी दौर में हिंदी गीतकाव्य उत्कृष्टता के शिखर पर स्थापित हुई। छायावाद के लगभग सभी महत्वपूर्ण कवियों ने गीत को प्रमुख काव्य–विधा के रूप में अपनाया और प्रचुर संख्या में गीतों की रचना की। इस दौर में काफी वैविध्यपूर्ण गीत लिखे गए। इन गीतों में गांव के विविध दृश्यों, प्रकृति प्रेम, मानव प्रेम और देश प्रेम को मुख्य रूप से गीतों का विषय बनाया गया। आधुनिक काल में छायावाद गीतकाव्य की दृष्टि से सर्वाधिक संपन्न और समृद्ध है। जिस प्रकार भक्तिकाल को हिंदी कविता का स्वर्णकाल कहा जाता है, उसी प्रकार छायावाद को आधुनिक हिंदी गीतकाव्य का स्वर्णकाल कहा जा सकता है। छायावाद की रचनाएं अधिकतर गीतों के रूप में अथवा गीतात्मक ढंग पर हुई है। छायावाद गीत प्रधान काल ही था। प्रायः सभी महत्वपूर्ण छायावादी कवियों ने अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए गीतों को श्रेष्ठ माध्यम के रूप में चुना। छायावादी काव्य विषयी प्रधान था। अतरू गीतात्मक मुक्तकओं का प्रचलन बढ़ गया जो व्यक्तिगत भावोच्छवास को आधार बनाकर लिखे जाते थे। वैसे भी एक विशेष प्रकार की अनुभूतियों के प्रकाशन के लिए श्रेष्ठ माध्यम गीत अथवा प्रगीत ही होता है। इस कारण से भी छायावादी दौर में गीतकाव्य का अधिक विकास हुआ। छायावाद कालीन गीतों में प्रेम तत्व की प्रधानता है। सांगीतिकता, विचारों की योजना, प्रकृति का उद्गार, भावपूर्ण और कलात्मक चित्रण, नवीन सौंदर्यबोध, चित्रात्मकता, वेदना की प्रधानता, मानव की प्रतिष्ठा,

छंदों का मिश्रण, स्वाभाविकता, आत्मनिष्ठता आदि छायावाद कालीन गीतों की महत्वपूर्ण विशेषताएं हैं। छायावाद कालीन गीतकारों में जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शशर्मा नवीनश रामकुमार वर्मा, आदि कवि–गीतकार प्रमुख हैं। इन्होंने छायावाद कालीन गीतकाव्य को नए–नए रूप रंग देकर सजाने–संवारने का काम किया है। पंडित लालधर त्रिपाठी प्रवासी के अनुसार– 'माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण शर्मा नवीन के गीतों का मुख्य विषय स्वदेश प्रेम है और इन्होंने मुक्त कंठ से देश प्रेम के गीत गाये हैं। प्रसाद जी की गीतियां अधिकतर श्रृंगारपरक, पंत जी की प्रकृतिपरक, निराला जी के दार्शनिक और प्रकृतिपरक तथा महादेवी जी की गीतियां अरूपपरक है। हिंदी का गीतिगाव्य इन कवियों द्वारा विशेष समृद्ध हो उठा, इसमें संदेह नहीं।''[7] जयशंकर प्रसाद के गीतों में राष्ट्रीय–सांस्कृतिक–ऐतिहासिक चेतना, प्रेम और करुणा की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। 'लहर' तथा 'आंसू' में प्रसाद जी के श्रेष्ठ और सुंदर गीत संकलित हैं। यहां इन रचनाओं से एक एक उदाहरण प्रस्तुत है–

''मेरी आंखों की पुतली में
तू बनकर प्राण समा जा रे!
जिससे कन कन में स्पंदन हो
मन में मलयानिल चंदन हो
करुणा का नव अभिनंदन हो
वह जीवन गीत सुना जा रे!''[8] (लहर,पृ 42)

और,

''शशि–मुख पर घूँघट डाले
ऑचल में दीप छिपाये
जीवन की गोधूलि में
कौतूहल से तुम आए।''9 (ऑसू,पृ 19)

जयशंकर प्रसाद के नाटकों चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त, तथा महाकाव्य कामायनी में भी बहुत से अच्छे गीतों की रचना की गई है। छायावाद के महत्वपूर्ण कवि और श्रेष्ठ गीतकार निराला ने प्रसाद जी के गीतों के संबंध में अपनी रचना गीतिका की भूमिका में लिखा है कि –''खड़ी बोली में नये गीतों के प्रथम सृष्टिकर्ता प्रसाद जी हैं। उनके नाटकों में अनेक प्रकार के नये गीत हैं।''10

सुमित्रानंदन पंत प्रकृति के सुकुमार कवि कहलाते हैं। कविता के साथ–साथ उनके गीतों में भी प्रकृति से सहज जुड़ाव देखा जा सकता है। उन्होंने 'भारतमाता ग्रामवासिनी' जैसे कई सुंदर गीत लिखे हैं। पंत जी के गीतों में शब्द और अर्थ का अद्भुत सामाजिक दिखाई पड़ता है। 'ज्योत्सना' में पंत जी के सुंदर गीत संकलित हैं। इन गीतों में पंत जी का सहज, सुकुमार, कोमल भाव और व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं। ज्योत्सना का एक गीत उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत है–

''जगमग–जगमग, हम जग का मग,
ज्योतित प्रतिपग करते जगमग।
हम ज्योति–शलभ, हम कोमल–प्रभ,
हम सहज सुलभ दीपों के नभ!
चंचल, चंचल, बुझ–बुझ, जल–जल
शिशु उर पल–पल हटते छल–छल!
हम पटु नभचर, हँसमुख सुंदर
स्वप्नों को हर लाते भू पर!

झिलमिल–झिलमिल, स्वप्निल, तंद्रिल
आभा दिल–मिल, भरते झिलमिल!''[11]

गीतकाव्य की दृष्टि से सुमित्रानंदन पंत की वीणा, पल्लव, गुंजन, ग्राम्या, खादी के फूल आदि कृतियों में उनके द्वारा रचित गीत मिलते हैं। इन गीतों में मनुष्य का स्वाभाविक सहजपन, राग, यौवन, चिंतन, प्रकृति से लगाव, देशप्रेम और जीवन की गूढ़ विवेचना जैसी विशेषताएं मिलती हैं।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' का हिंदी गीतकाव्य के क्षेत्र में अद्वितीय स्थान है। वे हिंदी गीतकाव्य के सिरमौर हैं। छायावादी दौर में निराला ने कविता और गीत दोनों ही काव्य रूपों में अनेक उत्कृष्ट रचनाएं की। निराला के गीतों में सामाजिक चेतना और देशप्रेम का व्यापक चित्रण हुआ है। निराला छायावाद कालीन श्रेष्ठ गीतकारों में शामिल हैं। पराधीन भारत की जनता के दुःख–दर्द और उनकी समस्याओं को शब्दों में ढालने वाले निराला अपनी व्यक्तिगत वेदना को भी सामाजिक वेदना के साथ मिलाकर अपने गीतों के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। 'गीत गाने दो मुझे, वेदना को रोकने को' जैसे गीत की पंक्तियां इस दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण हैं। राष्ट्रीय चेतना और मातृशक्ति के प्रति श्रद्धा का भाव भी निराला के गीतों में अभिव्यक्त हुआ है। अनामिका, परिमल, गीतिका, बेला, अणिमा, गीतगुंज, नये पत्ते, आराधना, अर्चना, सान्ध्य काकली आदि संग्रहों में निराला के गीत संकलित हैं। इनमें से गीतिका आदि संग्रहों में गीतों का प्राधान्य है। निराला ने प्रेम और सौंदर्य के भाव से परिपूर्ण अनेक गीतों की रचना की है। उनके 'बॉधो न नॉव इस ठॉव, बन्धु! पूछेगा सारा गॉव, बन्धु!' शीर्षक गीत में लौकिक प्रेम और दार्शनिकता की अद्भुत अभिव्यंजना हुई है–

''बाँधो न नाँव इस ठाँव, बन्धु!
पूछेगा सारा गाँव, बन्धु!
यह घाट वही जिस पर हँसकर,
वह कभी नहाती थी धँसकर,
आँखें रह जाती थी फॅसकर,
कँपते थे दोनों पॉव बन्धु!
वह हँसी बहुत कुछ कहती थी,
फिर भी अपने में रहती थी,
सब की सुनती थी, सहती थी,
देती थी सबके दाँव, बन्धु!''[12]

निराला के गीतों की एक अनूठी विशेषता उनकी भक्ति–भावना है। निराला ने भक्ति भाव से परिपूर्ण कई गीतों की रचना की है। किंतु निराला की भक्ति–भावना पारंपरिक भक्त कवियों की भक्ति भावना से भिन्न और विशिष्ट है। मध्यकालीन संत कवियों की भक्ति–भावना जहां प्रभु से मिलन और आत्मकल्याण पर केंद्रित है, वहीं निराला की भक्ति–भावना भारत की दीन–हीन, शोषित, पीड़ित जनता के उद्धार और कल्याण की कामना से पूर्ण है। भक्ति–भावना का यह आधुनिक ढंग निराला के गीतों की एक अनन्य विशेषता है जिसमें निराला आत्मकल्याण के लिए नहीं अपितु दलित और शोषित मनुष्य की मुक्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं–

''दलित जन पर करो करुणा
दीनता पर उतर आये
प्रभु, तुम्हारी शक्ति अरुणा।''[13]

निराला की भक्ति–भावना और उनके गीतों पर बंगाल की संस्कृति का व्यापक प्रभाव है। बंगाल की संस्कृति में मातृशक्ति की आराधना की प्रधानता है। निराला भी मातृशक्ति की स्तुति में 'वर दे वीणावादिनी वर दे!' जैसे गीत रचते हैं। गीतिका में सरस्वती या मातृशक्ति से संबंधित कई गीत हैं। रहस्यवादी और प्रकृति

सौंदर्य से संबंधित गीतों के बाद इन्हीं गीतों की संख्या अधिक है। यह बंगाल की संस्कृति का प्रभाव है। निराला ने मातृशक्ति की वंदना अपने गीतों में मुख्यतः तीन रूपों में की है– ''पहला देवी सरस्वती के रूप में, दूसरा भारतमाता के रूप में और तीसरा काव्य रचना की प्रेरिका के रूप में।''[14] इसके अलावे राम, कृष्ण, हरि आदि देवताओं से संबंधित गीत भी उन्होंने लिखे हैं। 'जिधर देखिए श्याम बिराजे', 'मां अपने आलोक निखारो', 'दूरित दूर करो नाथ', 'भजन कर हरि के चरण मन!' आदि निराला के अन्य भक्तिभाव से पूर्ण श्रेष्ठ गीत हैं।

निराला अपने जीवन के अंतिम दौर तक गीत रचना में प्रवृत्त रहें। अपने रचना–कर्म में उन्होंने आदि से अंत तक गीत की शैली का निर्वाह किया है। छायावादी काल में निराला ने हिंदी गीत को ऊंचाई प्रदान की। निराला ने अपने गीतों में कथ्य, शिल्प और प्रस्तुतीकरण के स्तर पर प्रयोग किए। उनके गीतों में प्रेम, सौंदर्य, परम सत्ता के चरणों में गति और मानव मात्र के प्रति स्नेह और करुणा का भाव अभिव्यक्त हुआ है। निराला के गीतों की सफलता इस बात में भी निहित है कि उन्होंने गीत को अपने दीर्घकाल से बिछुड़े सहचर संगीत से जोड़ने का प्रयास किया। लय से पूर्ण निराला के गीतों में काव्य के अंतरंग और बहिरंग दोनों का संतुलन दिखाई पड़ता है। मानव मात्र की मुक्ति और शक्ति की कामना से पूर्ण निराला के गीत हिंदी गीत काव्य की अमूल्य निधि हैं। हिंदी नवगीत के आरंभ का श्रेय भी निराला को ही दिया जाता है।

महादेवी वर्मा हिंदी गीतकाव्य की अत्यंत महत्वपूर्ण गीतकर्त्री हैं। छायावाद कालीन कवियों में निराला के अतिरिक्त गीत रचना के क्षेत्र में जिन रचनाकारों को सर्वाधिक सफलता और प्रसिद्धि प्राप्त हुई, उनमें महादेवी वर्मा का नाम सबसे प्रमुख है। महादेवी की करुणा भरे गीतों का हिंदी गीतकाव्य के संसार में विशेष महत्व है। गीत से महादेवी वर्मा का सहज जुड़ाव परिलक्षित होता है। उनकी समस्त काव्य–रचना गीतात्मक विशेषताओं से युक्त है। हिंदी गीतकाव्य के इतिहास में महादेवी वर्मा पहली स्त्री गीतकार हैं जिन्होंने गीत रचना में अपार ख्याति और प्रसिद्धि प्राप्त की। गीत से अपने जुड़ाव को रेखांकित करते हुए 'दीपशिखा'की भूमिका में महादेवी वर्मा लिखती हैं कि–''शैशव से ही मैं गीतों के संस्कार में पली हूँ। मॉ की भाव भरी गीतांजलियॉ, घर में जन्म, विवाह आदि शुभ अवसरों पर गाई जाने वाले गीत–कथाएं, परिचारकों के ऋतु, पर्व आदि से संबंध रखने वाले लोकगीत, कलाविदों का ध्वनि–संगीत, प्राचीन ज्ञान और सौंदर्य द्रष्टाओं के वेद–छन्द, माधुर्य भरे संस्कृत और प्राकृत पद और पिछले अनेक वर्षों में सुने सहज ग्रामगीत सभी के प्रति मेरा स्वभाविक आकर्षण रहा है।''15 गीतों की जिस परंपरा का अनुसरण प्रसाद, पंत, निराला आदि ने किया उसकी पूर्णता महादेवी के गीतों में दिखाई पड़ती है। प्रेम और करुणा की भावना की अभिव्यक्ति महादेवी के गीतों में सर्वोत्तम ढंग से हुई है। इसलिए उन्हें 'आधुनिक मीरा' कहा जाता है और उनके गीतों को मीरा के पदों के समान महत्व दिया गया है। निहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत, दीपशिखा, आदि महादेवी वर्मा के प्रमुख गीत संग्रह है। इनमें से प्रथम चार रचनाओं को सम्मिलित रूप में 'यामा' शीर्षक से प्रकाशित किया गया, जिसमें एक सौ पच्चीस गीत संग्रहित हैं। 'दीपशिखा' महादेवी वर्मा के रचे के एक सौ बावन गीतों का एक अलग संग्रह है। महादेवी वर्मा के ये गीत एक दूसरे से संबंधित हैं। प्रेम, करुणा और आत्माभिव्यक्ति की प्रबलता उनकी अधिकांश गीतों की प्रमुख विशेषताएं हैं। 'निहार' के गीतों में आकर्षण और पीड़ा की तीव्र अनुभूति अभिव्यक्त हुई है। 'रश्मि' के गीतों में दार्शनिक भावबोध को देखा जा सकता है। 'नीरजा' के गीतों में विरह अवस्था का चित्रण और सांध्यगीत के गीतों में आत्मतोष और उपासना का भाव प्रबल रूप से प्रकट होता है। 'दीपशिखा' में शामिल गीतों का मुख्य प्रतिपाद्य स्वयं को मिटाकर दूसरे को सुखी बनाना है। प्रेम, आध्यात्म, प्रकृति चेतना, रहस्यवादी भावना, वेदना और करुणा, चिंतन की गहराई, प्रिय से मिलन की आकांक्षा आदि महादेवी वर्मा के गीतों की विशेषताएं हैं। महादेवी वर्मा के गीतों का आधिकारिक विषय मनुष्य का आत्मिक प्रेम है और उनके गीत मुख्यतरू प्रेम और विरह के आत्मीय उद्गार हैं, जिसमें पीड़ा, करुणा, वेदना और दुःख के भावों की प्रधानता तो है ही, साथ ही ये गीत एक स्त्री और एक मनुष्य के मन की अर्थात् व्यष्टिगत यानी व्यक्तिगत पीड़ा को समष्टिगत अर्थात संसारिक पीड़ा के रूप में व्यक्त करने वाले भी हैं–

''विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली।''[16]

महादेवी वर्मा के गीतों में संगीत का सुंदर प्रवाह उपस्थित है। मन की अमूर्त भावनाओं को भी महादेवी जी ने बड़ी कुशलता से सजीव स्वरूप देकर प्रस्तुत किया है। उनके गीतों की भाषा अत्यंत सुंदर, कोमल, मधुर और स्निग्ध है। महादेवी के गीत अपनी कोमलता और मार्मिकता के कारण सहज ही ग्राह्य हो जाते हैं। उनके गीतों में विरह भाव प्रधान गीतों की अच्छी संख्या दिखाई पड़ती है। उनके विरह भाव से पूर्ण गीत हिंदी गीतकाव्य की अनुपम निधि हैं। उनका यह चर्चित विरह भाव प्रधान गीत प्रसिद्ध है–

''विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात!
वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास;
अश्रु चुनता दिवस इसका, अश्रु गिनती रात
जीवन विरह का जलजात!''[17]

प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी वर्मा छायावाद कालीन श्रेष्ठ गीत रचनाकार हैं। इनके अलावा डॉ रामकुमार वर्मा की पहचान भी छायावादी दौर के एक सफल रहस्यवादी गीतकार के रूप में है। मैथिलीशरण गुप्त का प्रादुर्भाव द्विवेदीयुग में ही हो गया था तथापि वे छायावादी दौर में भी गीत रचना में प्रवृत्त रहें। साकेत के नवम सर्ग गीत काव्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जाता है। अवस्था छायावाद काल में हिंदी गीत का विकास अधिक विकास और विस्तार हुआ। अंतर्वस्तु शिल्प और संवेदना के स्तर पर गीतों में विविधता और गहराई का समावेश हुआ, जिसका प्रभाव छायावादोत्तर गीतकाव्य पर भी दिखाई पड़ता है।

छायावादोत्तर काल से आशय सामान्यतः छायावाद के बाद से लेकर नवगीत के आरंभ के समय तक से है। लेकिन छायावादोत्तर काल के गीतकार छायावादी दौर में ही गीत–रचना में प्रवृत्त हो गए थे। सन् 1936 ईस्वी में लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। प्रगतिवादी विचारों के बढ़ते प्रभाव के कारण समाज और साहित्य में जो परिवर्तन हुए उनका प्रभाव हिंदी साहित्य के अन्य विधाओं की तरह छायावादोत्तर हिंदी गीतों पर भी पड़ा। प्रगतिवादी चेतना के बढ़ते प्रभाव के परिणाम स्वरूप हिंदी में जनगीतों की उस परंपरा का पुनः विकास होने लगा जिसका प्रारंभ भारतेंदु युग में हुआ था और आगे चलकर जिसका विस्तार जनवादी गीतों के रूप में हुआ। जनवादी दृष्टि से जनगीतों के छंद और लय का आधार छायावादोत्तर काल में हिंदी गीतों को प्राप्त हुआ। छायावादोत्तर काल में हिंदी गीतकाव्य का विकास कई अन्तर्धाराओं में हुआ। इनमें राष्ट्रीय–सांस्कृतिक गीतकाव्य धारा और व्यक्तिपरक गीतकाव्य धारा प्रमुख हैं। इनके विकास के सूत्र छायावाद कालीन गीतकाव्य के भीतर ही अंतर्निहित थे। छायावादोत्तर काल के गीतकारों में माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान, रामनरेश त्रिपाठी, जानकी वल्लभ शास्त्री, रामधारी सिंह दिनकर, नरेंद्र शर्मा, हरिवंश राय बच्चन, गोपाल सिंह नेपाली, केदारनाथ अग्रवाल, शिवमंगल सिंह सुमन, गोपालदास नीरज, रामदरश मिश्र, श्रीपाल सिंह 'क्षेम', रूप नारायण त्रिपाठी, आरसी प्रसाद सिंह, शमशेर बहादुर सिंह, भवानी प्रसाद मिश्र, रामेश्वर शुक्ल अंचल, नरेश मेहता आदि कवि–गीतकार प्रमुख हैं। इन गीतकारों ने छायावादोत्तर युग में हिंदी गीतकाव्य को अपने गीतों से समृद्ध किया। नवगीत के आरंभ के पहले छायावादोत्तर दौर में गीतों ने आम जनमानस के बीच अपार लोकप्रियता अर्जित की। राष्ट्रप्रेम का वर्णन, प्रेम और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति छायावादोत्तर गीतों का प्रमुख विषय रहा। माखनलाल चतुर्वेदी का प्रसिद्ध गीत 'पुष्प की अभिलाषा', सुभद्रा कुमारी चौहान की 'झांसी की रानी', बालकृष्ण शर्मा नवीन का 'विप्लव गायन', हंस कुमार तिवारी का 'मिट्टी वतन की पूछती' आदि गीत राष्ट्रीय–सांस्कृतिक गीतकाव्य धारा के उत्कृष्ट गीत हैं। दिनकर ने भी राष्ट्रीय भाव से संपन्न श्रेष्ठ गीतों की

रचना की है। छायावादोत्तर काल के व्यक्तिपरक गीतकाव्य धारा के कवियों के गीतों ने साहित्यिक प्रतिष्ठा के साथ–साथ समाज में भी व्यापक लोकप्रियता अर्जित की। इसका कारण यह था कि इस प्रकार के कवियों ने बिना किसी छायावादी ढंग के आवरण के अपनी बात अपने गीतों के माध्यम से पूरी स्पष्टता और कलात्मकता के साथ प्रस्तुत की। छायावादोत्तर हिंदी गीतों की इस विशेषता के बारे में कन्हैया लाल नंदन लिखते हैं कि– 'छायावादोत्तर काल के व्यक्तिपरक गीतधारा के कवियों ने बेधड़क अपनी बात कही। यह याद रखने की बात है कि बच्चन, नरेंद्र शर्मा, अंचल आदि के गीतों की लोकप्रियता सिर्फ उनकी भाषा–शैली या प्रस्तुतीकरण की रोचकता की वजह से नहीं फैली थी। ये गीतकार, युवा–वर्ग के जीवन के एक महत्वपूर्ण पक्ष–प्रेमाकांक्षा को उनके ही शब्दों में अभिव्यक्त कर रहे थे, इसलिए कवि–सम्मेलन और युवा–गोष्ठियों में उन्हें हाथों–हाथ स्वीकार कर लिया गया था।''[18] इस दृष्टिकोण से हरिवंश राय बच्चन, गोपाल दास नीरज और श्रीपाल सिंह क्षेम जैसे गीत कारों के गीत अत्यधिक लोकप्रिय हुए। इनके ऐसे ही कुछ प्रसिद्ध गीतों के अंश प्रस्तुत हैं–

''कहॉ मनुष्य है जिसे
कमी खली न प्यार की,
इसीलिए खड़ा रहा
कि तुम मुझे दुलार लो!
इसीलिए खड़ा रहा
कि तुम मुझे पुकार लो!''[19] (बच्चन)
''झूमती गुनगुनाती हुई यह हवा
कौन जाने कि तूफान के साथ हो,
क्या पता इस निंदारे गगन के तले
यह हमारे लिए आखिरी रात हो,
ज़िन्दगी क्या समय के बियाबान में
इक भटकती हुई फूल की गंध है,
देखती ही न दर्पण रहो प्राण तुम!
प्यार का यह मुहूर्त निकल जाएगा!''[20] (नीरज)
''एक तन, एक मन, एक थे प्राण–स्वन,
एक लय फिर वहॉ पर विषम कौन हो ?
भूमि कॅपती रही, द्वार झूमा किये
स्वप्न डूबी प्रकृति सुन रही मौन हो!
रात–भर रात की बीन बजती रही,
एक संगीत बहता रहा रात–भर!
रात–भर रातरानी गमकती रही
एक सपना महकता रहा रात–भर!''[21] (श्रीपाल सिंह श्क्षेमश)

छायावादोत्तर युग में हरिवंश राय बच्चन के गीत अत्यंत प्रसिद्ध हुए। उनके गीतों का स्रोत स्वयं उनका जीवन था। उन्होंने विभिन्न मुद्दों से संबंधित गीतों की रचना की है। अपने गीत के संबंध में बच्चन स्वयं कहते हैं कि –'गीत कह इसको न दुनिया, यह दुःखों की माप मेरे!'[22] इसी प्रकार वैयक्तिक प्रेम की मार्मिक अभिव्यक्ति करता शमशेर बहादुर सिंह के एक गीत का यह अंश भी बहुत महत्वपूर्ण है–

''लौट आ,
ओ फूल की पंखड़ी
फिर

फूल में लग जा।''[23]

छायावादोत्तर काल में राष्ट्रीय–सांस्कृतिक गीतकाव्य धारा तथा व्यक्तिपरक गीतकाव्य धारा के अतिरिक्त दो अन्य प्रवृत्तियों प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का भी प्रभाव गीतों पर पड़ा। हिंदी गीत छायावादोत्तर दौर में इन साहित्यिक प्रवृत्तियों से प्रभावित होते हुए आगे बढ़ा। केदारनाथ अग्रवाल जैसे गीतकारों ने इस दौरान क्रांति का आह्वान करने वाले गीतों के साथ–साथ लोक धुन पर आधारित सुन्दर गीत भी रचे–

''मॉझी! न बजाओ बंशी मेरा मन डोलता
मेरा मन डोलता जैसे जल डोलता
जल का जहाज जैसे पल–पल डोलता।''[24]

छायावादोत्तर काल में प्रगतिवादी चेतना से संपन्न नागार्जुन के गीत विशेष महत्व रखते हैं। नागार्जुन के 'उनको प्रणाम', 'बादल को घिरते देखा है', 'मेरी भी आभा है इसमें', 'मास्टर', 'अकाल और उसके बाद', 'आए दिन बहार के' जैसी गीतात्मक कविताएं प्रगतिवादी चेतना संपन्न गीतकाव्य के उदाहरण हैं। विश्व के उत्कर्ष के मूल में मनुष्य के श्रम की महत्ता का शिनाख्त करता नागार्जुन का यह गीतांश दृष्टव्य है–

''नये गगन में नया सूर्य जो चमक रहा है
यह विशाल भूखंड आज जो दमक रहा है
मेरी भी आभा है इसमें''[25]

साहित्यिक विधाओं में नूतन प्रयोग प्रत्येक युग में होते आए हैं। सन् 1943 ई. में अज्ञेय द्वारा संपादित सात कवियों के साझा काव्य संकलन श्तार सप्तकश से हिंदी कविता में प्रयोगवाद का आरंभ हुआ। प्रयोगवादी कविताओं में नवीन भावबोध, संवेदना और अभिव्यक्ति के लिए शिल्पगत नवीनता पर जोर दिया गया। प्रयोगवादी कवियों ने गीत में भी प्रयोग किए हैं। उन्होंने गेयता का निर्वाह करते हुए गीतकाव्य को विस्तार दिया। ''तार सप्तक में स्वयं अज्ञेय तथा प्रभाकर माचवे, 'दूसरा सप्तक' में भवानी प्रसाद मिश्र, शमशेर बहादुर सिंह, हरिनारायण, नरेश मेहता, और धर्मवीर भारती तथा 'तीसरा सप्तक' में कृति चौधरी, मदन वात्स्यायन, केदारनाथ सिंह कुंवर नारायण और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना जैसे कवियों ने गीत लिखे हैं। इस दौरान तीनों सप्तकों के कुल इक्कीस कवियों में से ग्यारह कवियों ने श्रेष्ठ गीतों की भी रचना की है।''26 इनमें से अधिकांश कवियों के गीतों का विषय प्रेम और प्रकृति है। यद्यपि व्यापक मानवीय जीवन संदर्भों की अभिव्यक्ति का प्रयास इन गीतों में कम हुआ है। तथापि ये गीत अपने कथ्य और शिल्प के कारण बहुत लोकप्रिय हुए और इनका साहित्यिक महत्व सिद्ध होता है। प्रभाकर माचवे का 'इस मुसाफिरी का कुछ न ठिकाना, भइया', भवानी प्रसाद मिश्र का 'टूटने का सुख' और 'वाणी की दीनता', शमशेर के 'मैं सुहाग हूँ' और 'बाले दीप', कीर्ति चौधरी का 'घाव तो अनगिन लगे, कुछ भरे, कुछ रिसते रहे', केदारनाथ सिंह के 'धान उगेंगे कि प्रान उगेंगे', तथा 'रात पिया, पिछवारे पहरु ठनका किया' आदि गीत छायावादोत्तर युग में प्रयोगवादी कवियों द्वारा तार सप्तक, दूसरा सप्तक तथा तीसरा सप्तक में रचे गए गीतों के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

निष्कर्ष :– परंपरा से चले आ रहे गीतों ने आधुनिक काल में आकर अपना व्यापक विकास और विस्तार किया। आधुनिक काल हिंदी गीत काव्य के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण कालखंड सिद्ध हुआ है। आधुनिक काल में भी छायावाद और छायावादोत्तर दौर में हिंदी गीत काव्य उत्कृष्टता के शिखर पर विराजमान हुई। तथा स्वातंत्र्योत्तर समय में हिंदी गीत काव्य में नवगीत और जनवादी गीत के दो महत्वपूर्ण आंदोलन चले जिन्होंने हिंदी गीतों को और अधिक समृद्ध करने का कार्य किया। आधुनिक काल में हिंदी गीतों में विषय, भाव और शिल्प के स्तर पर हिंदी गीतों में महत्वपूर्ण बदलाव भी हुए। जिनसे हिंदी गीतों में विविधता और रचनात्मकता बढ़ी। हिंदी कविता के समान ही आधुनिक काल में हिंदी गीतों का समुचित विकास हुआ।

इस प्रकार, स्पष्ट होता है कि छायावादोत्तर युग में हिंदी गीत काव्य का विकास प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कविताओं के साथ ही हुआ। लेकिन तीसरा सप्तक के प्रकाशन के बाद सन् 1960 आते–आते स्थितियां तेजी से बदल गई। यहॉ से जहॉ हिंदी कविता नई कविता और अन्य कविता आंदोलनों के नारे और शोर के साथ आगे बढ़ी, वही हिंदी गीतकाव्य नवगीत और जनवादी गीत के रूप में विकसित होते हुए आगे बढ़ी। छायावादोत्तर काल में अनेक गीतकारों ने बहुत से अच्छे गीतों की रचना कर हिंदी गीतकाव्य की साहित्यिक और रचनात्मक महत्ता को सिद्ध किया। इस दौर के प्रयास अभी महत्वपूर्ण और बड़े कवियों ने गीत लिखें। इस दौर में गीत–रचना के क्षेत्र में हो रहे व्यापक लेखन के परिणाम स्वरूप ही नयी कविता के साथ–साथ नवगीत का भी आंदोलन आरंभ हुआ। और आगे स्वातंत्र्योत्तर हिंदी गीतकाव्य का विकास नवगीत और जनवादी गीत के रूप में हुआ।

संदर्भ–सूची :–

1. भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतदुर्दशा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–110002, प्रथम संस्करण, 2015, पृ.18।
2. वही,पृ.19।
3. डॉ उमाशंकर तिवारी, आधुनिक गीतिकाव्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–110002, द्वितीय संस्करण, 2000ई., पृ.143।
4. वही,पृ.174।
5. डॉ आशाकिशोर, आधुनिक हिंदी गीतिकाव्य का स्वरूप और विकास, पृ.23।
6. मैथिलीशरण गुप्त, भारतभारती, लोक भारतीय प्रकाशन इलाहाबाद–211001, 45वॉ संस्करण, 2015, पृ.4।
7. पंडित लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी', गीतिकाव्य का विकास, पृ.469।
8. जयशंकर प्रसाद, लहर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद–1, संस्करण 2014, पृ.42।
9. जयशंकर प्रसाद,ऑसू, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद–1, लोकभारती संस्करण 2019, पृ.19।
10. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, गीतिका(भूमिका),पृ.1।
11. सुमित्रानंदन पंत, ज्योत्सना, गंगा पुस्तकमाला लखनऊ, प्रथम संस्करण, सं.1991 वि. पृ.44।
12. रामविलास शर्मा(संपादक), रागविराग, लोग भारतीय प्रकाशन इलाहाबाद–211001, संस्करण 2014, पृ.162।
13. वही, पृ131।
14. डॉ विश्वनाथ प्रसाद, आधुनिक हिंदी गीतिकाव्यरू समीक्षा/विवेचना, विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक वाराणसी–221001, प्रथम संस्करण, 2011, पृ.38।
15. महादेवी वर्मा, दीपशिखा, पृ.35।
16. महादेवी वर्मा, संन्धिनी, लोक भारतीय प्रकाशन, इलाहाबाद–211001, दूसरा पेपरबैक संस्करण,2012,पृ.93।
17. महादेवी वर्मा, नीरजा, लोक भारतीय प्रकाशन, इलाहाबाद–211001, दूसरा पेपरबैक संस्करण,2012,पृ.13।
18. कन्हैया लाल नंदन, श्रेष्ठ हिंदी गीत संचयन, पृ.45।
19. वही,पृ.141।
20. क्षेमचन्द्र सुमन (संपादक), हिंदी के सर्वश्रेष्ठ प्रेमगीत, हिंद पॉकेट बुक्स, गुड़गांव, हरियाणा–122002, संस्करण 2019, पृ.64।
21. वही, पृ124।
22. हरिवंश राय बच्चन, मधु कलश, सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, संस्करण 1947, पृ.41।
23. शमशेर बहादुर सिंह, प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली–110002, प्रथम संस्करण, 1990, पृ.130।
24. केदारनाथ अग्रवाल, प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली–110002, प्रथम संस्करण, 2010, पृ.39।
25. नागार्जुन,प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली–110002, इक्कीसवॉ संस्करण, 2015, पृ.72।
26. डॉ. विश्वनाथ प्रसाद, आधुनिक हिंदी गीतिकाव्यरू समीक्षा/विवेचना, पृ.149।

तहसील धारचूला के व्यास और दारमा घाटी के रं जनजातियों के व्यापार की दशा

महिपाल सिंह कुटियाल *

सार :– किसी भी जाति या समाज की सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन उनके अर्थव्यवस्था के इर्द–गिर्द ही घूमती रहती है। जनपद पिथौरागढ के तहसील धारचूला के व्यांस और दारमा घाटी के लोग कृषि योग्य भूमि के अभाव में प्रारम्भ से ही रं जनजाति अपने जीवन के निर्वहन के लिये आजिविका के रूप में पशु पालन व व्यापार का कार्य किया करते थे जो वर्तमान समय में सिमटकर रह गया है। प्राचीन भारतीय इतिहास में व्यापार के लिये पणि शब्द का उल्लेख मिलता है वहीं व्यांस व दारमा घाटी के लोग लोग अपने व्यापार के काम को "पण" कहा करते हैं। यह व्यापार इस घाटी के लोग सैकड़ों खच्चरों के साथ कई व्यापारी, लिपुलेख दर्रे के पार तिब्बत की ताकलाकोट मंडी जिसे तिब्बत के लोग पूरंग मंडी कहते हैं नामक स्थान पर सदियों से करते चले आ रहे हैं। लेकिन वर्तमान समय में यह व्यापारिक कार्य लगभग समाप्ति की ओर हैं।

मुख्य शब्द :– व्यांस, व्यापार, पण, घाटी, रं जनजाति,

वास्तविक रूप से रं जनजाति के लोग जनपद पिथौरागढ के तहसील धारचूला के निवासी हैं अनेक विद्वानों और इतिहासकारों ने इस समुदाय को शौका कहकर भी पुकारा लेकिन यह समाज और समुदाय अपने को रं कहलाना पसंद करते हैं। यूरोपीय विद्वानों में एटकिन्सन, वाल्टन, ट्रेल व क्रुक्स ने भी 'शौक' शब्द के लिए भोटिया नाम प्रयुक्त किया जो इस क्षेत्र में तीन अंचल (घाटी) –दारमा, व्यांस और चौंदास के लिये हैं। यह तीनों अंचल काली एवं धौली नदी उपत्यका में स्थित है। ये शारीरिक गठन के लिहाज से यह तिब्बती और मंगोलाइट के निकट हैं वहीं वाल्टन के अनुसार भोटिया रंड./ शौका स्वयं को हिन्दू राजपूत मानते हैं। इस जाति को न केवल अंग्रेज अपितु भारतीय लेखकों ने भी शौका न कहकर भोटिया नाम से ही सम्बोधित किया लेकिन यह जनजाति स्वयं को भोटिया के स्थान पर "रंड." जनजाति के नाम से सम्बोधित करना पसंद करती है। धारचूला के रंड. जनजाति अपने को ऋग्वेद और मनुस्मृति के वर्ण व्यवस्था के अनुरूप सृष्टिकर्ता के मुख से ब्राह्मण, बाँह से क्षत्रिय, उदर से वैश्य तथा पैर से शूद्र की उत्पति के अंतर्गत बाँह से उत्पन्न मानते हैं, जिस कारण रंड. स्वयं को पूर्णतया क्षत्रिय मानते हैं, क्योंकि शौका जनजाति की भाषा में रंड. शब्द में "रं" का अर्थ है बाहं या भुजा होता है। रंड. जनजाति में पुरुष वर्ग कृषि, पशुपालन व व्यापार का काम सम्भालते हैं जबकि महिलाऐं कृषि, भोजन व ऊनी उद्योग को सम्भालती हैं। रंड. वास्तव में घुमन्तु और व्यापारिक मानव समूह रहा है, जिस कारण यह जनजातीय क्षेत्र अपनी एक अलग पहचान रखता है। यह क्षेत्र प्राचीन काल से ही व्यापार का केन्द्र रहा है। जून से लेकर सितंबर तक के चार महीनों के लिए, जब इस इलाके में बर्फ कुछ पिघलती है तो इस समय लिपुलेख दर्रे से ताकलाकोट मंडी में चलने वाले पारंपरिक व्यापार मंडी को व्यापार के लिये खोल दिया जाता है और यह परम्परा सदियों से चला आ रहा है। प्राचीन समय से ही उच्च हिमालय के व्यांस और दारमा के रंड. व्यापारी व्यापार के सामानों के लिये स्थानीय पशुओं जैसे याक, घोड़े, भेड, बकरियॉ, खच्चर, झुप्पु, का प्रयोग कर दुर्गम मार्ग से होते हुए व्यांस और दारमा, बुदी, गर्ब्यांग, गुंजी, लिपूलेख, लिम्पियालेख आदि गिरिद्वारों से होकर तिब्बत के व्यापारिक मण्डी तकलाकोट (पूरछो) ज्ञानिमा (छ्याकारा), और दरचेन पहुंचाते थे। जहॉ रंड. (रं) जनजाति के व्यापारी अनाज, गुड़, चीनी, ऊनीवस्त्र, सूतीवस्त्र, विसातखाने की सामग्री का विनिमय हुणों तथा

***असिस्टेंट प्रोफेसर इतिहास राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय बेरीनाग पिथौरागढ़।**

डोक्पा (पशुचारक) के साथ किया करते थे। बदले में ये व्यापारी तिब्बत से ऊन, तिब्बती नमक, सुहागा, तिब्बती चंवर गाय के पूछ एवं बहुमूल्य रत्न लेकर लौटते थे।

यद्यपि यह स्पष्ट है कि शौका/रंड. (रं) जनजाति का तिब्बत के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बहुत पुराना है। क्योंकि कश्मीर से लेकर अरुणाचल प्रदेश तथा उच्च हिमालय में जोहार घाटी, व्यॉस घाटी, दारमा घाटी का तिब्बत के साथ व्यापार का उल्लेख महाभारत, हर्षचरित, कादम्बरी, तथा वृहद संहिता, राहुलसाकृत्यांक और इतिहासकर टालमी, बद्रीदत्त पाण्डेय, शिव प्रसाद डबराल, स्वामी प्रणवानंद द्वारा प्राप्त होता है। तिब्बत के साथ शौकाओं के व्यापार का उल्लेख सम्राट हर्षवर्धन के शासन काल में भी मिलता है। प्राचीन समय से परम्परागत रूप से व्यापार–वाणिज्य में लगे रहने के कारण इस जनजातियों को शौका या शउका अर्थात साहूकार कहा गया। इस शौक का सम्बन्ध कुमॉऊ के उच्च हिमालय में रहने वाले जनजातियों से लगाया गया है।

उच्च हिमालय के उत्तरपूर्व की ओर कुटी यंग्ती जो आगे चलकर काली नदी के तट पर व्यांस घाटी जिसमें कुटी, नाबी, रोंकॉग, गुंजी, नपल्चू, गर्व्यांग तो दुसरी तरफ लंग्च्श्यर यंग्ती जो आगे चलकर धौली नदी के तट पर दारमा परगना का सीपू, मार्छा, तिदंग, ढाकर, गो, दांतु, दुग्तु, सोन, बौन, फिलम, बालिंग, नागलिंग, सेला और चल आदि गॉव स्थित है प्राचीन समय से यहॉ के रंड. (रं) जनजाति का तिब्बत के साथ व्यापारिक सम्बन्ध रहा है।

भारत तिब्बत व्यापार उत्तराखण्ड़ के उच्च हिमालयी क्षेत्रों के औद्यौगिक विकास की दृष्टि से प्रारम्भिक अवस्था में एक महत्वपूर्ण गतिविधि थी। जो उच्च हिमालय हस्तशिल्प उद्योग के विकास के लिये आवश्यक था क्योंकि हिमालय के उच्च क्षेत्रों में कृषि का उत्पादन बहुत कम मात्रा में होने के कारण तिब्बत से व्यापार रंड. (रं) जनजातियों का एक लाभप्रद व्यवसाय रहा है। जब कुमॉऊ में कत्युरी शासकों का शासन था तब दारमा क्षेत्र के सुनपति शौका द्वारा तिब्बत से ऊन, नमक और सोना आयात करके अन्न व अन्य सामग्री तिब्बत मे भोटिया व्यापारी द्वारा पहुंचाया जाता था। इतिहासकरों का मानना है कि इस क्षेत्र में व्यापार लगभग नौवीं शताब्दी के आसपास शुरू हुआ। उस समय इस सीमांत क्षेत्रो के शासन की देख–रेख का कार्य इन कत्युरी शासको ने बुढेरों अर्थात स्थानीय प्रमुख व्यक्तियों को सौपा था। 1670 ई0 में चंद शासको के शासन काल में चंद शासक बाजबहादुर चंद ने व्यास घाटी के लीपूलेख तक के मार्ग पर अधिकार किया और कृषि के अभाव के कारण यहॉ के आवासरत रं जनजातियों को पशुपालन व व्यापार के लिये प्रोत्साहित किया था। यदि वर्तमान समय में तिब्बत पूर्ण रूप से स्वतंत्र होता तो आज उच्च हिमालय के सीमांत रं (शौका) जनजाति व्यापारी व्यापार वर्ग में एक विशेष स्थान बनाने में सफल होते परंतु चीन का तिब्बत पर अधिकार उच्च हिमालयी के उद्यमी और उद्योग वर्ग व्यापारियों को व्यापारी वर्ग बनाने में रुकावट उत्पन्न कर गया।

उच्च हिमालय के व्यापारियों को देखते हुए वाल्टन ने कहा है कि– "समस्त उच्च हिमालय के जनजातियों का व्यापार में एकाधिकार उसके कुमॉऊ और गढवाल में सम्पन्न वर्ग का प्रतीक था" क्योंकि ये तिब्बत के साथ स्वर्ण चूर्ण, बहुमूल्य पाषाण रत्न, मरगज, स्फटिक अफीक, संगजूबा, संगमशव, नीलम, पुखराज, ऊन, ऊनी वस्त्र, समूर खाले, चवर गाय की पूछ, कस्तूरी, कुचा, पाषाण भेद....कई वस्तुओं का आयात किया करते थे।

1815 में जब अंग्रेजों ने कुमॉऊ पर अधिकार किया तो अंग्रेज सेनापति आक्टर लौनी ने काली नदी के उत्तर पश्चमी क्षेत्र जहॉ रं (शौका) जनजाति व्यापार किया करते थे उन्होंने भी इन व्यापारियो को व्यापार करने को प्रोत्साहित किया था। वहीं कुमॉऊ में अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना से पहले 1776 ई0 में जार्ज बोग्ले और 1814 ई0 में विलियम मूर क्राप्ट ने तिब्बत व्यापार से कम्पनी सरकार को होने वाले आर्थिक लाभो से अवगत कराया जिस कारण ट्रेल को 1882 में गंताके (गंटोक) से तिब्बत व्यापार की देख–रेख का कार्य भार सौप दिया

गया और 7 सितम्बर 1904 में लार्ड कर्जन अपनी सेना को लेकर ल्हासा तक आ पहुंचा जिस कारण अंग्रेजो के साथ तिब्बत व्यापार समझौता हुआ परिणाम स्वरूप ज्ञानिमा, मारतंग, पुरछो, आदि व्यापार मण्डी खोल दिया गया। 10 सितम्बर 1950 को चीन ने जब तिब्बत पर अपना अधिकार किया था उस समय भी उच्च हिमालय के रं (शौका) जनजाति जो व्यांस, चौदांस और दारमा के निवासी है यहॅा के व्यापारियों का व्यापार मण्डी निकुर्च, मंदंग और तकलाकोट तथा दारमाघाटी के व्यापारीयों का मण्डी छ्करा, खरेका, ढावे और नेपाली भोटिया की मण्डी गुकंग थी। रं जनजाति के व्यापारी तिब्बत के साथ "गमग्या व्यापार पद्वति" के आधार पर अपने व्यापार के लिये इन मार्गो को अपनाते थे।

- रं जनजाति के दारमा परगना के व्यापारी छ्करा और ज्ञानिमा मण्डी में व्यापार के लिये दारमा के गिरीद्वार का मार्ग को अपनाते थे जो धारचूला, खेला, न्यूसोबला, धर्मद्वार दर, नागलिंग, दातू, गो, तिदंग, ढाबे, दारमाघाट (शिव द्वार), मंगपुल, लामाछोरतेन होते हुऐ छ्करा और ज्ञानिमा को जाते हैं इस मार्ग की कुल दूरी 97 कि0 मी0 से भी अधिक है।
- रं जनजाति के व्यांस और चौंदास समुदाय के व्यापारियों का व्यापार मार्ग गर्व्यांग, गुंजी, मनिला, अपिपर्वत, कालापानी, संग्बुंग, लिपूलेख, घाटापाला, ताकलाकोट, मांचा, राकसताल, मानसरोवर, ज्यूंगोक्या, बागट से दरचेन मार्ग रहा है।
- वहीं व्यांस वैली में व्यापार का दूसरा मार्ग भी है जो गर्ब्यांग, गुंजी, नाबी, कुटी से निकुर्च होते हुए लिम्पियालेख, राकसताल, मानसातालाब होते हुऐ दरचेन जाते हैं जो 98 कि0 मी0 से भी अधिक लम्बा मार्ग है।
- रं जनजाति के व्यापारीयों का मकसद भारत के निचले इलाकों से पश्चिमी तिब्बत के दुर्गम इलाकों में गुड़, मिस्री और बर्तन जैसी रोजमर्रा की जरूरत का सामान पहुँचाना और इसके बदले तिब्बत से भारत के मध्य हिमालयी इलाकों में रहने वाले लोगों के लिये नमक लाना था।

इस "गमग्या व्यापार पद्वति" में व्यापारिक मध्यस्थ तिब्बत का निवासी होता है जिसे व्यापार के लिये मितुर शब्द का प्रयोग किया जाता है। अत यह व्यापार के प्रारम्भ में मित्रता के लिये एक रस्म–सुलजी –मुलजी की प्रक्रिया थी जो इस सीमान्त के व्यापारियों को निभानी पड़ती थी। इस प्रक्रिया में तिब्बती व्यापारी मध्यस्थ को एक सफेद रुमाल भेंट दिया जाता तत पश्चात एक औपचारिक अभिलेख जिसमें रं / शौका व्यापारी और तिब्बती मितुर दोनो के नाम व्यापार की शर्त उल्लेखित रहती जिस पर दोनो पक्ष हस्ताक्षर कर इस अभिलेख को अपने व्यापार का आधार बनाते हैं इसी अभिलेख को गमग्या पद्वति कहा जाता है। व्यापार के इस प्रक्रिया में तिब्बती व्यापारिक अधिकारी जौंग्पन और उसका सहयोगी सटॅटू भारत के सीमांत व्यापारियों के पशु और मनुष्यों के रोग मुक्त की जानकारी प्राप्त करता है। शौका/ रं जनजाति व्यापारियों को तिब्बत में व्यापार करने के लिये कर भी देना पड़ता था। जैसे– छांग ठल अर्थात व्यापार कर, रांग ठाल अर्थात व्यापार के लिये तिब्बत में प्रयुक्त की जाने वाले भूमि हेतु कर, ला ठल अर्थात पशु जिनके द्वारा व्यापार किया जाता है उन पशुओं को चराने के लिये कर, लुन ठल अर्थात भेडो पर कर, या ठल अर्थात धूप कर आदि कर अनाज, गुड, कपडे और अन्य सामग्री के रूप में वसूला जाता था।

जब 23 मार्च 1951 को चीनी सरकार ने तिब्बत को अपने साम्राज्य में मिलाया तब भी भारत तिब्बत व्यापार सुचारु रूप से चलता रहा। चीनी सरकार ने भारत के साथ व्यापार व सांस्कृतिक सम्बन्धों को सुधारने के लिये 1954 में एक समझौता किया था लेकिन 1962 के भारत–चीन युद्ध के बाद व्यापार लंबे समय के लिए बंद हो गया जिसका सीधा असर रं शौका जनजातियों के व्यापार पर पड़ा। व्यापार के बंद होने के कारण व्यांस और दारमा घाटी में आवासरत कई व्यापारी ब्यांस, चौंदास, दारमा और जोहार घाटी से पलायन होने को मजबूर हो गये। जब चीन के प्रधानमंत्री ने 1991 में भारत की यात्रा की तब उन्होने व्यापारिक संन्धि करते हुऐ 1962 के व्यापारिक प्रतिबंध को खोलने के लिये 13 दिसम्बर 1991 को एक समझौता किया और 15 जुलाई 1992 को

भारत तिब्बत व्यापार पुन खोल दिया गया। 1992 में जब लिपुलेख दर्रे को व्यापार के लिए दोबारा खोला गया तो इसमें संतुलन लाने के लिए सीमा के दोनों ओर मंडियां बनाई गई। तिब्बत की ओर से ताकलाकोट मंडी में भारतीय व्यापारी तो लगातार जाते रहे लेकिन भारत में बनाई गई गुंजी मंडी में केवल शुरूआती कुछ वर्षों तक ही तिब्बती व्यापारी आए। तीन लम्बे दशक के बाद जब व्यापार दुबारा शुरु हुआ तो उस समय तक उच्च हिमालय के 50ः व्यापारी माइग्रेशन और व्यापार का कार्य छोड़ चुके थे। यह एक ऐसा आघात था कि रं जनजाति अपने व्यापार की समृद्वि की सीमा से खिसककर सामान्य घरातल पर आ पहुंचे। सीमांत क्षेत्र के रं /शौका जनजातियों का तिब्बत के साथ व्यापार टूट जाने के कारण जहॉ आर्थिक क्षति हुई वहीं ऐसी स्थिति उतपन्न हो गयी कि रं जनजाति समुदाय का समाज और व्यापारी यह निर्णय नही ले पा रहें हैं कि आर्थिक गतिविधियों की दशा क्या हो?

वर्तमान समय में सरकार उच्च हिमालय के इन व्यांस और दारमा क्षेत्रों में सड़को का निर्माण करवा रही है। ऐसे में उच्च हिमालय के व्यापारी वर्ग के लिये प्रतिबंधित भारत तिब्बत व्यापार जो प्राचीन काल से रं समुदाय (रं जनजाति) के व्यापारी का जीविकापार्जन का एक मात्र साधन रहा है वह सड़क निर्माण के बाद आघात सा प्रतीत होता है। रं जनजाति क्षेत्र के अंतिम गॉव कुटी और ज्योंलिंकांग (आदि कैलास) से आगे सड़को का वर्तमान में निर्माण रं जनजातियों के व्यापारियों की उम्मीद पुन सरकार से जाग उठी है।

भारत–चीन व्यापार केंद्र के आंकड़ों के मुताबिक 2000 के बाद से पिछले तकरीबन पंद्रह सालों में भारत–चीन के बीच सालाना व्यापार 20 लाख डॉलर से बढ़कर अब तकरीबन 100 करोड़ डॉलर तक पहुंचने को है लेकिन इन दोनों ही देशों के दुर हिमालयी इलाकों के जनजातीय समाजों के बीच शताब्दियों से चल रहा पारंपरिक व्यापार धीरे–धीरे शिथिल पड़ता जा रहा है।

संदर्भ–सूची :–

1. पाण्डेय, बद्रीदत्त, कुमॉऊ का इतिहास, प्रकाशन शक्ति प्रेस, अल्मोडा।
2. प्रेमी, विश्वम्भर सहाय, हिमालय में भारतीय संस्कृति, चैतन्य प्रकाशन, कानपुर।
3. रायपा, रतन सिंह, शौका सीमावर्ती जनजाति, धारचूला 1973।
4. डबराल, शिव प्रसाद, उत्तराखण्ड के भोटान्तिक, प्रकाशन वीरगाथा दोगड्डा, गढवाल।
5. डबराल, शिव प्रसाद, उत्तराखण्ड की सांस्कृतिक राजनीतिक एवं आर्थिक इतिहास, प्रकाशन वीरगाथा दोगड्डा, गढवाल।
6. जोशी, अवनींद्र कुमार, भोटान्तिक जन–जाति, प्रकाश बुक डिपो, बरेली।
7. रं अमटीकर 1997।
8. रं अमटीकर 2008।
9. रं अमटीकर 2016।
10. व्यांस नबियाल, जवाहर सिंह, कुमॉऊ के पूर्वी भोटिया की संक्षिप्त सामाजिक व्यवस्था, सरहदी सितम्बर 1973।
11. टोलिया, आर० एस०, उत्तराखण्ड के विकास में गिरिद्विारों का योगदान।
12. ढकरियाल, डूंगर सिंह, हिमालयी शौका की संस्कृति।
13. पंत, पुष्पेश, भोटिया नए आयाम की तलाश (साप्ताहिक हिंदुस्तान पत्र)।
14. पंत, ललित मोहन, कुमॉऊ की शौका जनजाति का तिब्बत से व्यापार।
15. साक्षात्कार श्री रतन सिंह नबियाल।
16. साक्षात्कार श्री कुवर सिंह कुटियाल।
17. साक्षात्कार श्री खुशाल सिंह कुटियाल

ဢ★ဆ

पीली छतरी वाली लड़की : एक प्रेम-कथात्मक अध्ययन

रीता देवी*

सारांश :– 'पीली छतरी वाली' उदय प्रकाश की एक महत्त्वपूर्ण कहानी है। इस कहानी का कथ्य जीवन के विविध आयामों के साथ–साथ विमर्श का स्वरूप चित्रित करता है। कहानी प्रेम कथा को आधार बनाकर आगे बढ़ती है, परन्तु हमारी जातीय व्यवस्था इस प्रेम कथा में पूर्णतः दखल अंदाजी वाली भूमिका का निर्वाह करती है। उदय प्रकाश हिन्दी साहित्य के चर्चित कथाकार होने के साथ–साथ पत्रकार और फिल्मकार भी है। मध्यप्रदेश के शहडोल में वर्ष 1952 में जन्में उदय प्रकाश बहुमुखी प्रतिभावान कथाकार है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि इनका साहित्य में कथ्य विविध और विस्तृत है। 'पीली छतरी वाली लड़की' इसी विस्तृत कथ्य की एक योजना का अंश है। उदय प्रकाश यथार्थ बोध के कलमकार हैं और युगीन प्रवृति के अनुरूप इनकी कलम यथार्थ को लिखती चलती है। इसी युगीन प्रवृति के अनुरूप लेखक अपना उद्देश्य व्यक्त करते हुए बढते है। यह एक नई परम्परा का निर्वहन है कि आपने अपनी अनुभूति को सामाजिक रूप से चित्रित किया है। आलोच्य कहानी में जातिगत व्यवस्था का स्वरूप चित्रित होने के साथ आज के युवा और आज की यौनिकता पर अपना मत प्रस्तुत करने की बजाय अपनी मासूम संवेदनशीलता के आधार पर सामाजिक मनोवृतियों को उजागर किया गया है। कहना संगत होगा ''पीली छतरी वाली' रचना में उदय प्रकाश ने अपनी साहित्यिक कारीगरी का परिचय देकर सामाजिक यथार्थ का चित्रण किया है।

मूल शब्द :– युवा, यौनिकता, जातिगत, व्यवस्था, चर्चित कथाकार, शहडोल, छतरी, यथार्थ, विस्तृत, प्रतिभावान, शैली, कथ्य, निर्वहन, संवेदना, अनुशीलन।

उदय प्रकाश यथार्थ के कथाकार है। उनकी कथाओं में (कथासाहित्य में) सामाजिक यथार्थ के लिए कचोट है, यह कचोट 'पीली छतरी वाली लड़की' में देखी जा सकती है। कथ्य में जातिगत, वंशगत, धर्मगत दंश समाज को इस प्रकार खोखला कर रहा है कि मानवीय भाव शून्य से दिखाई पड़ने लगे हैं। इस प्रकार की बीमारी में समाज में आम आदमी का जीवन कमजोर और सताया हुआ सा दिखाई पड़ता है और हम समाज एक ऐसा सामजिक चेहरा देख पाते है जो कमजोर और दुर्दिन की मार को झेल रहा होता है।

आठवे दशक की कथा साहित्य की बात की जाए तो कहना संगत होगा कि तमाम कथाकारों के मध्य विभिन्न प्रयोगों के आधार पर कथा सृजन को लेकर स्पर्धा मची हुई थी परन्तु इन सबके मध्य उदय प्रकाश अपने यथार्थ के अपने समाज के यथार्थ को समझने में लगे हुए थे। यह यथार्थ उदय प्रकाश को नया और वृहत्र जीवन रचने के लिए प्रेरित कर रहा था। उदय प्रकाश इस बात को अनेक मंचों से कहते हैं कि आज के जीवन में आम आदमी की कोई सुनवायी नही है। 'पीली छतरी वाली लड़की' इसी की अभिव्यक्ति करती है।

आलोच्य रचना में लेखक यथार्थ और अतियथार्थ के मध्य एक हल्की सी रेखा खीची है जो समाज के भविष्य की ओर संकेत करती है। समाज में मूल्य में गिरावट है और संस्कृति के प्रति उदासीनता नजर आती है। 'पीली छतरी वाली लड़की' को उदय प्रकाश की महत्वपूर्ण रचना इसलिए भी कहा जा सकता है कि कथा नायक राहुल सामाजिक–राजनैतिक प्रभाव से अपने प्यार के लिए विद्रोही हो जाता है। मनुवाद की परम्परा ने एक स्वच्छ एवं साफ सुथरे चरित्र वाले राहुल को भावनाओं को इस प्रकार कुचल डाला कि वह टूट कर चूर–चूर हो जाता है। कथ्य का शीर्षक पाठक को अध्ययन से पूर्व कथा का अंदाजा देता है परन्तु यह तो पढ़ने

***शोद्यार्थी, हिन्दी विभाग, कानपुर विश्वविद्यालय, कानपुर।**

के बाद ही पाठक समझ पाता है राहुल कथानायक के अहसास प्रेम कथा से ज्यादा असरवाद और प्रभावी हैं। राहुल ने इसलिए युनिवर्सिटी के जिम में जाना आरम्भ किया कि वह सलमान खान की तरह अपनी भुजाओं में मछलिया बना सके, चीते जैसी कमर और तेंदुए जैसा धड़, वह एक चिकने हिंसक जानवर के रूप में अपने का ढाल देना चाहता है, इसके लिए और क्या चाहिए?''[1] इस प्रकार का राहुल का व्यवहार बहुआयाम था। जैसे कि विरोधी लिंग को रिझाना और समाज के कर्णधार से हाथा पाई करना पड़े तो वो भी करना। राहुल चाहता था कि वह भी उन जैसा बने जो सामाजिक रूप से प्रभावशाली है परन्तु उसका ध्यान जातिगत जहर की ओर जाने पर भी वह विचारहीन हो जाया करता था। उसने इस सुनी हुई बात को भी अनसुना कर दिया कि पेंइगुन से ऐसी एक किताब आयी है जो आदीवासी संदर्भो को बड़ी बारिकी से चित्रित करती है और उसने सामाजिक व्यवस्था को हिलाकर रख दिया है। कितनी अजीब शब्द है सामाजिक व्यवस्था, बस यह एक यत्रवत् है इसमे संवेदना और दूसरे को समझने की क्षमता नही है।

उदय प्रकाश ने जिन मुद्दों को इस रचना में उठाया है वे सही रूप में समाज में देखे जा सकते हैं। स्वयं उदय प्रकाश के शब्दों में ''पीली छतरी वाली लड़की' लिखने क बाद जो कुछ जीवन में घटित हुआ उसका वृतांत हिन्दी भाषा और भाषिक समाज के सत्ता केंद्र और उसके अन्तर्वस्तु को समझने की एक कुंजी प्रतीत हुई। अतीत के मद्यवृंतातों के परदे के पीछे के परदे के पीछे छिपी मानव विरोधी और मनविरोधी जातीय साम्प्रदायिक ताकतों का चेहरा पाठकों को साफ दिखेगा, एक नागरिक नगण्य सा लेखक होने के नाते, मैं आप सब दोस्तों से अपील करता हूं कि अपनी भाषा, अपनी विचाराधारा और अपने देश अस्मिताओं को बचाने के लिए सशक्त प्रतिरोध तैयार करें।''[2]

यह उपन्यास कहिए या लम्बी कहानी कहिए, यह 'हंस' में धारावाह के रूप में छपी थी। बाद में इसकी वाणी प्रकाशन ने वर्ष 2001 में प्रकाशित किया है। इसकी पृष्ठ संख्या भूमिका के अतिरिक्त एक सौ बावन है। इसी संदर्भ में ब्रिजेश सिंह अपने ब्लाग में लिखते है, ''पीली छतरी वाली लड़की से मिलवाने के लिए उदय प्रकाश जी का बहुत–बहुत धन्यवाद। उनका यह उपन्यास छात्र जीवन, राजनीति के समाज में बदलाव को लेकर पनपते प्रेम और जीवन के विरोधाभाष के बीच रास्ता खोजने की कहानी कहता है और अन्ततः पीली छतरी वाली लड़की के जीवन जीने के रासते पर जीवन के आगे के रास्ते पर निकल जाता है।''[3]

कहानी में पीली छतरी वाली लड़की का नाम अंजलि जोशी है जो एक दबंग और प्रतिष्ठित ब्राह्मण की बेटी है। जबकि राहुल एक सामान्य से परिवार का बेटा है। आकर्षण और प्रेम के वशीभूत होकर राहुल अपना मार्ग भी बदल लेता है परन्तु यह ब्राह्मण कन्या राहुल के जीवन को नष्ट करने का कारण ही बनती है। यहा यह भी कहना संगत होगा कि यह पीली छतरी वाली लड़की लेखक की जिंदगी का निजी प्रसंग होते हुए भी साहित्यिक चरित्र है। कुल मिलाकर इस लड़की का हृदय तो सहजता से परिपूर्ण था परन्तु इसका वातावरण नष्ट–भ्रष्ट अनैतिक गुंडे व मवालियों वाला था। इस प्रकार संयोग वही हुआ जो समाज में देखा जा सकता है कि राहुल और अंजलि जोशी के प्यार पर जातिगत और सामाजिक राजनीतिक प्रवेश ने कब्जा ह नही किया बल्कि उसको अपना मुद्दा भी बना लिया, इससे पूर्व यहाँ एक बात और गौर करने लायक साहित्य, सामाज और राजनीति में ब्राह्मणवाद का वर्चस्व जड़ो तक बैठा हुआ है।

मनीष कुमार जी अपने ब्लाग में लिखते है ''विकास के इस ढांचे ने समाज के दो ही वर्ग पैदा किए हैं, एक जिनके पास कुछ नही है और एक जिनके पास सबकुछ है।''[4] रचना में राहुल और अंजली जोशी इन्ही वर्गों का प्रतीक प्रतीत होते हैं।

लेखक ने अपनी रचना में जातीय दंश से त्रस्त समाज में भाषायी ...... की ओर भी पाठक का ध्यान आकृष्ट किया है। भाषा और शिक्षा को लेकर उदय प्रकाश जी सजग नजर आ रहे हैं। छात्रों का निर्देशन के

अभाव में किस प्रकार भटकाव के मार्ग में उलझ जाते हैं और फिर उनके अध्यापक किस प्रकार का व्यवहार करते हैं, राहुल का एंथ्रोपोलीजी से दूसरे विभाग में जाना इस बात की ओर संकेत करता है। लेखक स्वयं अपनी पुस्तक की भूमिका में बताते हैं ''हिन्दी, उर्दू और संस्कृत तीन विभाग इस विश्वविद्यालय में ऐसे थे, जिनके होने के कारणों के बारे में किसी को पता नही था, यहाँ पढ़ने वाले छात्र, उज्जड़, पिछड़े और मिसफिट, समय की सूचनाओं से कटे लड़के थे और वैसे ही उनके कैरिकेयर लगाते अध्यापक थे, कोई पान खाता लगातार थूकता था तो कोई बेशर्मी से अपनी टांग खुजलाता था। कोई चुटियाधारी तो कोई रघुपतिया होता। कोई किसी लड़की का चिपक होता। दूसरे लड़के उस विभाग का मजाक बनाते उसको कटपीस सेंटर कहते।''[5] यह बात इस सूचना में भी आई है यदि अंजली जोशी बीमारी की लपेट में न आती तो शायद यहाँ दाखिला नही लेती।

यहाँ यह भी स्पष्ट करना अनिवार्य है कि समाज में केवल एक जाति का प्रभाव ही नही है बल्कि गुंडे और मवालियों के साथ हफ्ता की वसूली करने वालों का प्रभाव भी है। 'पीली छतरी वाली लड़की' में लेखक इस बात को जोर देकर कहना चाहता है कि इस प्रकार के असामाजिक तत्वों न सामाजिक व्यवस्था और भ्रातृत्व को लाचार बना दिया है। यहाँ लेखक पूर्णतः गम्भीर होने के साथ–साथ चिंति है। पुस्तक में कुछ–कुछ अश्लील से प्रसंगों का जिक्र आया है। यह वातावरण और देश काल की प्रवृति की और संकेत करता है। पैसा और प्रभाव आदमी की प्रवृति आदमी को अश्लील बना देती है, यही लेखक ने इस रचना के ताने–बाने में दर्शाया है। लेखक उदय प्रकाश जी कम्युनिस्ट विचाराधारा के रहे हैं और देश की राजनीति में फैली इस प्रकार की संस्कृति और यह भोगवाद उन्हें नागवार गुजरता है।''[6] अतः यह रचना जीवन के पक्ष कथ्य की मांग थी, जिसके माध्यम से अपने उद्देश्य का व्यक्त करना था।

यदि आलोच्य रचना के तात्विक पहलू पर विचार किया जाए तो इस दृष्टि से भी यह एक सफल रचना है। कथावस्तु पात्र रखें चरित्र चित्रण, संवाद, भाषा शैली, देशकाल रखे वातावरण और उद्देश्य की दृष्टि से कहानी कहिए, लम्बी कहानी कहिए या उपन्यास कहिए एक सफलता स्थापित करने में पूर्णतः समर्थ है। कथावस्तु और समाज के संदर्भों के वातावरण को पूर्णत चित्रित करती हुई अपने उद्देश्य की ओर बढ़ती है। राहुल और अंजली जोशी की पात्र योजना प्रभावी है। इनके संवाद अपनी बात को स्पष्ट करते है। भाषिक संयोजन की सुन्दर बन पड़ा। उद्देश्य सामाजिक और प्रभावी है।

संदर्भ–सूची :–

1. पीली छतरी वाली लड़की, उदय प्रकाश, कवर पेज से
2. मनीष कुमार का उदय प्रकाश से साक्षात्कार का अंश
3. ब्रिजेश कुमार के ब्लाग का अंश
4. मनीष कुमार, शुभतारिका अम्बाला, जून 2020
5. पीली छतरी वाली लड़की, उदय प्रकाश भूमिका से
6. मनीष कुमार का उदय प्रकाश के साक्षात्कार का अंश

आदिवासी हिन्दी कविताओं में बिम्ब और प्रतीक

डॉ. अनीश कुमार*

शोध सारांश :– आदिवासी कवि के कविता कर्म में भी तमाम दृष्टिकोण से बिम्ब सामने आ रहे थे। चिन्तन के समय हमारे मानस में अनेक स्मृति जन्य अथवा स्वरचित बिम्ब उभरते तथा विलीन होते रहते हैं। इन कविताओं में सत्ता के प्रति आक्रोश से बिम्ब बदले हैं। इनमें से स्मृतिजन्य बिम्ब आदिवासी विद्रोहों से भी सामने आते हैं। वहीं कुछ स्वररचित बिम्ब मौलिकता के साथ भी हैं। काव्य में कल्पना के योग से निर्मित स्वरचित बिम्बों का विशेष महत्व होता है। इस शोध–पत्र में आदिवासी हिन्दी कविताओं में बिम्ब और प्रतीक योजना को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है।

बीज शब्द :– आदिवासी हिन्दी कविता, बिम्ब, प्रतीक, हिन्दी आलोचना।

हिन्दी कविता आलोचना के क्षेत्र में बिम्ब शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 1915 में लिखित निबंध 'भाव या मनोविकार' में करते हुए 'बिम्ब' को परिभाषित करते हैं कि "बिम्ब–योजना विभाव के अंतर्गत होती है, चित्रण उसका मुख्य धर्म है। इसकी दूसरी विशेषता है संश्लिष्ट रूपविधान। बिम्ब व्यक्ति या विशेष का होगा, सामान्य या जाति का नहीं।"[1] कविता में बिम्ब को वस्तु और रूप से सम्बंध जोड़ते हुए उसे मूर्त तथा ग्राह्य बताते हुए नामवर सिंह लिखते हैं कि "कविता में मैं सबसे अधिक ध्यान देता हूँ बिम्ब–विधान पर। बिम्ब–विधान का सम्बन्ध जितना काव्य की विषय–वस्तु से होता है, उतना ही उसके रूप से भी। विषय को वह मूर्त और ग्राह्य बनाता है; रूप को संक्षिप्त और दीप्त।"[2] वास्तव में बिम्ब शब्द मानस चक्षु का पर्याय है। साहित्य के अंतर्गत जीवन और जगत की अनुभूति हमें बाह्य संवेदनों से प्राप्त विभिन्न बिम्बों के रूप में ही रेखांकित होती है। कविता में बिम्ब का चित्रण व्यक्ति से जुड़ा ऐसा चित्र फलक है; जिसमें बाह्य परिवेश के संपर्क से निरन्तर बिम्बों का ग्रहण होता है। कविता और मनुष्य के चिन्तन और अनुभूति के मूल में भी बिम्ब निहित रहा है।

अधिकांश आदिवासी हिन्दी कविताओं का स्वर आक्रोश से भरा एवं विद्रोही है। उनकी प्रवृत्ति बिना लाग लपेट के सीधे लक्ष्य पर चोट करने वाला है। निर्मला पुतुल की कविताओं में भी शब्दों के माध्यम से आधुनिक हथियार हैं। ये हथियार वैचारिक हैं। आज के कवि को यह भी पता है कि आज कि लड़ाई शस्त्रों से नहीं बल्कि कलाम से लड़ी जाए तो ज्यादा कारगर सिद्ध होगी। लेकिन कवि सत्ता के गलत नीतियों के खिलाफ प्रतिरोध कि चेतना से समझौता नहीं कर रहे हैं। निर्मला पुतुल भी अपनी कविताओं में बिम्ब के माध्यम से शब्दों को रेखांकित किया है। नीचे की कविता में प्रतिरोध के स्वर के साथ अनेक बिम्ब आए हैं। ये उन प्रतिक्रियाओं की बात करते हैं जिनमें प्रतिकूल परिस्थितियों की धुँध छंटेगी, सबके असली चेहरे निकल आयेंगे। कवयित्री को उस समय का इंतजार है जब समय की कोख में पलते गर्भस्थ शिशु की तरह वेदना से फूटेगा एक नया युग और एक नए समय से साथ सामने आयेगा–

''अक्सर चुप रहने वाला आदमी / कभी न कभी बोलेगा ज़रूर सिर उठाकर
चुप्पी टूटेगी एक दिन धीरे–धीरे उसकी / धीरे–धीरे सख्त होंगे उसके इरादे
और तनेंगी मुट्ठियाँ आकाश में व्यवस्था के खिलाफ।''[3]

निर्मला पुतुल की कविताएँ इसी आदमी की चुप्पी टूटने की मुहिम हैं। अपने जीवन की इन स्थितियों के विषय में संघर्ष से दूरी नहीं बनाई। संघर्ष करते हुए उनके जो अनुभव हैं उन्हीं अनुभवों शब्दों के माध्यम से अपनी कविताओं में स्थान दिया है। उन्होंने बताया है कि जीवन में संघर्ष करते–करते अनेक ऐसे क्षण आए जब "मैं पूर्णतः अकेली पड़ गई।... बावजूद इसके मैं विरोध करती रही। उनकी कवितायें समाज के उस छवि को निर्देशित करती हैं जो शोषणविहीन हो। उनकी कल्पना एक ऐसे समाज निर्माण कि जहां सभी समान हों। अपनी कविताओं में सत्ता व समाज से संघर्ष करती हुई दिखाई देती हैं। यह उनकी अपनी कविता की जमीन है।

***सहायक प्रोफ़ेसर (तदर्थ), हिन्दी विभाग, गुरु घासीदास (केंद्रीय) विश्वविद्यालय, बिलासपुर, छत्तीसगढ़।**

अदित्य कुमार मांडी 'सत्ता' के महत्व को समझते हैं। वे आदिवासी समुदाय को भी समझने का प्रयास करते हैं। शेर को जंगल का राजा माना जाता है। जंगल के सभी पशु पक्षी उसे ही सत्ता की चाभी सौंप देते हैं। अंततः शेर उन्हें ही शिकार बनाकर अपना पेट भरता है। यही स्थिति सामाजिक स्तर पर भी है–

''शेर को शीर्ष पर जगह देना /कितना सही है ?
संसार में शेर की भूमिका क्या है ?/बस राज करता है / कोई काम नहीं।
और जो संसार के लिए / काम करता है /उसी को शिकार बनाता है।"[4]

इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये गये ऐन्द्रिय बिम्बों को भाषा में रुपान्तरित करते समय कविगण प्रायः उन्हें अपनी कल्पना की तूलिका से रंग कर नया बना देते हैं। जब हम शुद्ध विचार के क्षेत्र में पहुँचकर गम्भीर तत्व–दर्शन की चर्चा करते हैं, तब भी हमारे उपचिंतन में कहीं–न–कहीं उन भावों तथा विचारों के वर्णचित्र उभरते मिटते रहते हैं। बिम्ब निर्माण की यह प्रक्रिया पूरे मानव जीवन में कुछ इस तरह से फैली हुई है कि हमारे लिए यह अति परिचय जनित अवज्ञा की वस्तु हो गई है। साहित्यकार विभिन्न अनुभूतियों को बिम्बों के माध्यम से प्रस्तुत करते हुए उनसे हमारा तादात्म्य स्थापित करता है, इसलिए "कविता में प्रत्येक बिम्ब उसकी सम्पूर्ण संघटना का अविच्छेद्य एवं अविभाज्य अंग होता है।"

प्रतीकों की काव्यात्मकता तब अधिक सार्थक होती है, जब प्रतीक बिम्ब के समान ऐन्द्रिकता और मूर्तता लिए हों। यह सर्वस्वीकृत है कि जहाँ बिम्ब अर्थों की अनेक लड़ियों और वलयों से संपन्न रहते हैं, वहीं प्रतीक एकार्थक होते हैं। बिम्ब जहाँ भावावेग से दृप्त रहते हैं, वहाँ प्रतीकों के मूल में बौद्धिकता अधिक रहती है। प्रतीक बहुत व्यापक शब्द है। इसका प्रयोग सामान्य रूप से तर्कशास्त्र, विज्ञान, मनोविज्ञान, गणितशास्त्र तथा ज्योतिष में होता है। धार्मिक क्षेत्र में इसका महत्व इस सीमा तब बढ़ गया है कि आज प्रतीक के अँग्रेजी पर्याय 'सिम्बल' धर्म अथवा संप्रदाय का पर्याय सा बन गया है। ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतीकों का प्रयोग अलग–अलग ढंग से होता है। धार्मिक प्रतीक 'संकेत' अथवा 'सांकेतिक' के तात्विक संबंधों पर आधारित होते हैं तथा साहित्य और कला में प्रतीकों का प्रयोग अधिक स्वच्छंद रूप में होता है। वहाँ भी यह किसी सूक्ष्म भाव सत्ता का प्रतिनिधित्व करता है, पर वहाँ उसकी अपनी सत्ता भी हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। अतः प्रतीक कोई वस्तु नहीं, वह एक विराट रचनात्मक प्रक्रिया में पड़ने वाला ऐसा बिंदु है; जो किसी पदार्थ को एक निश्चित वस्तु के रूप में परिचित कराता है। कई विद्वानों ने 'प्रतीक' की व्याख्या अपने–अपने ढंग से की है; जैसे– "किसी विशिष्ट अर्थ का बोध कराने वाले शब्द को प्रतीक कहते हैं। यह एक सशक्त अभिव्यंजना शैली है, जिसमें गहन, सूक्ष्म, व्यापक तथा सम्मोहक अर्थ बोधक क्षमता निहित होती है।" इसी प्रकार हिंदी का प्रतीक शब्द तन से तो शुद्ध संस्कृत–परम्परा का है, पर इसका मन (अर्थ) यूरोपीय परम्परा विशेष से जुड़ा है। काव्य में प्रतीकों का अपना विशेष महत्व है। उनका सृजन नहीं किया जा सकता; अपितु वे जीवन से ही आते हैं। प्रतीक की अर्थ सिद्धि हेतु व्यंजना शक्ति के परिणाम की निर्णायक भूमिका सिद्ध होती है। प्रतीक के द्वारा वस्तु जगत के पदार्थों तथा स्थितियों को प्रतीक बनाकर उनके माध्यम से संवेदनाओं और अनुभूतियों को व्यक्त किया जाता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्रतीक द्वारा मूर्त जगत में अर्मूत भावनाओं का निरूपण किया जाता है, इसे देखा नहीं जाता, मात्र महसूस किया जा सकता है। अपने अंतर में ही समझा या विश्लेषित किया जा सकता है। यहाँ कवि साम्राज्यवादी व्यवस्था को प्रतीक के माध्यम से दिखाने का प्रयास करता है। उसी का अंग है पूंजीवाद। जो अब पहले से अधिक ताकतवर हो गया है। एक कविता के माध्यम से समझते हैं–

उसने अपने नाखून बढ़ा लिए हैं
उसकी आँखें / पहले से ज्यादा लाल और प्यासी हैं
वह एक साथ / कई गांवों में हमला कर सकता है
उसके हमलों ने / समूची पृथ्वी को दो हिस्सो में बाँट दिया है"[5]

आदिवासी लड़कियों को काली, असभ्य आदि कहकर उनका उपहास किया जाता है। जबकि कवयित्री को उसी में सुंदरता दिखाई देती है। एक चेहरे में सुंदरता के लगभग सारे बिम्ब कवयित्री को दिखाई देते हैं। मानो पहाड़ भी लड़की की सुंदरता के आगे नतमस्तक है–

''ऊपर से काली / भीतर से अपने चमकते दांतों
की तरह शांत धवल होती हैं वे /वे हँसती हैं फेनिल दूध–सी
निश्छल हँसी / तब झर–झराकर झरते हैं ... /पहाड़ की कोख से मीठे पानी के सोते"[6]

प्रकृतिक उपदानों के माध्यम से कवयित्रि आत्मसंतुष्ट होती है। बसंत ऋतु अपनी सुंदरता के लिए जानी जाती है। आदिवासी लड़कियों के नृत्य में भाव दिखाई देती है। इसीलिए तो कवयित्री को नृत्य में ही बसंत की आहट दिखाई देती है–

जूड़े में खोंसकर हरी–पीली पत्तियाँ /जब नाचती हैं कतारबद्ध
माँदल की थाप पर / आ जाता तब असमय बसंत"[7]

प्रकृति मानव की सहचर है और प्रेरक और आदर्श भी। आदिवासी कवि प्राकृतिक बिंबों के माध्यम से मनुष्य को चित्रित किया है। कवि केवल मनोरंजन के लिए बिंबों का प्रयोग नहीं करता बल्कि समाज के भयावह रूप को बिंबित करता है। साम्राज्यवादी व्यवस्था और आभिजात्य वर्ग का विरोध भी बिंबो के माध्यम से करते हैं। हालांकि इस कविता में सत्ता से सवाल भी है और उसके प्रति गुस्सा भी है–

''लछमनिया चूल्हा फूँकती है बार–बार / लकड़ी और लछमनिया के बीच की
दुश्मनी है पुरानी / पीढ़ियों की / चूल्हे की आग फूँक–फूँक कर अंधरा गई थी
माँ और दादी की आँखें। / लकड़ी गीली हो या सुखी
धुआँ भरता ही जाता है आँखों में / मिचमिचाई आँखें जैसे टेसू के फूल।
लछमनिया की रसोई में /कभी आयेगा गैस सिलेण्डर ?"[8]

कवयित्री आदिवासी जीवन के प्रकृतिक संसाधनों के खत्म हो जाने से दुखी हैं। प्रकृति ही आदिवासी जीवन का आधार है इसलिए कवयित्री उसे बचाना चाहती हैं। वे उस हर चीज को बचाना चाहती हैं जिससे आदिवासी दर्शन बनता है। आदिवासी दर्शन के बिम्ब में बचाव की उद्घोषणा है। आदिवासी कवयित्री का ऐसा मानना है कि आदिवासी दर्शन का बचना ही पूरी सृष्टि का बचना है। वे बारिश के बिम्ब के माध्यम से मनुष्य की उसी सहजता को बचाना चाहती हैं–

''मैं बारिश में थी / और बारिश मुझमें
मेरे पंख भीग रहे थे / देह नदी हो गई थी
शब्द पानी–पानी हो रहे थे / हंसी झरने की तरह
शोर कर रहे थे / बदमाश बादल मेरे पीछे पड़ा था
किसी आवारा शोहदे की तरह।"[9]

प्रतीक को परिभाषित करते हुए सत्यदेव मिश्र लिखते हैं कि "साहित्य में अमूर्त अदृश्य अश्रव्य एवं अप्रस्तुत विषय का प्रतिनिधित्व मूर्त, दृश्य, श्रव्य एवं प्रस्तुत विषय द्वारा किया जाना ही प्रतीक–पद्धति का प्रयोग कहलायेगा।"[10] 'नदी' को हमारी भारतीय संस्कृति का प्रतीक माना है जिस प्रकार एक नदी हमेशा प्रवाहमान रहती है उसी की मानिंद हमारी भारतीय संस्कृति लगातार प्रवाहमान बनी हुई है। जिस प्रकार नदी में विभिन्न गंदे नाले भी मिलकर पवित्र नदी बन जाते हैं उसी प्रकार हमारी संस्कृति में दुर्गुण व्यक्ति के कर्मों को माफ़ कर उसे जीवन जीने का सही मार्ग प्रशस्त करती है। कवि का काव्य कर्म तभी सफल होता है, जब वह पाठक के समक्ष किसी दृश्य या विषय का ऐसा सजीव रूप उपस्थित करें कि उसका प्रत्यक्ष चित्र ही उपस्थित हो जाए और वह यह कहने के लिए बाध्य हो जाए कि कवि की सर्जना शक्ति बिम्ब निर्माण में पूर्ण रूप से सक्षम है। काव्य में परिवर्तन व मानवीय सौन्दर्य के रूप में सौन्दर्य का विधान भी बिंबों पर ही आधारित होता है। इस प्रकार बिम्ब काव्य को विश्वसनीय एवं अकर्षणीयता प्रदान कर लालित्य का सृजन करते हैं।

आदिवासी समाज अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक के लिए जाना जाता है। आदिवासी विचारधार 'शास्त्र' शासित नहीं होता बल्कि उसकी अपनी स्वतंत्र विचारधारा होती है। यह विचारधार कविताओं में बिंबों के माध्यम से चित्रित की गई है "क्योंकि कोई भी विचारधारा प्रतीकों, बिंबों, अस्थाओं, भावनाओं, विचारों और प्रवृत्तियों की समग्र प्रणाली

होती है जिसके जरिये हम विश्व की और विश्व में अपनी स्थिति की व्याख्या करते हैं। यह प्रायः संस्कृति के या सांस्कृतिक व्यवहार के आवरण में लिपटी होती हैं। लेकिन यह किसी नस्ल अथवा राष्ट्र के सत्ताधारी वर्ग के सचेत कार्यक्रम के रूप में पुस्तकों के आवरण में भी लिपट कर आ सकती है। विचारधारा का एक भौतिक आधार होता है और इस भौतिक आधार को वह परिशुद्धता के अलग–अलग अनुपात में अभिव्यक्त करती है। यह इस बात पर निर्भर होता है कि उस समाज के भौतिक आधार और विचारधारा पर उस नस्ल अथवा राष्ट्र के किस वर्ग का नियंत्रण है।"[11] आदिवासी कविता अपनी प्रतिबद्धता के साथ रहती है।

आज के समय में आदिवासियों का संघर्ष असली बनाम नकली में बदलता जा रहा है। 'बाघ' जो सत्ता का प्रतीक है, वह आदिवासियों के बीच रहकर उनसे ही विश्वासघात कर रहा है। कविताओं में बिंबों व प्रतीकों के माध्यम से कवि सत्ता के असली चरित्र को उजागर करता है–

उनके दाँत बाहर की ओर निकल आए हैं नुकीले
आँखें अंगारे की तरह हैं
वह आदमी है लेकिन बाघ हो रहा है
वह चानर–बानर है /वह उलटबग्घा है
वह कुनुईल है"[12]

स्पष्ट शब्दों में काव्य कल्पना–चित्र नहीं है, वरन् अनुभूतियों का मूर्तिकरण है। बिम्ब काव्य–भाषा की तीसरी आँख है। बिम्ब शब्द का अर्थ छाया, प्रतिच्छाया, अनुकृति या शब्दों के द्वारा भावांकन है। आदिवासी कविता गीत, संगीत के माध्यम से समाज का स्पष्ट बिम्ब दिखाने की कोशिश करती है। हरिराम मीणा ने कभी बिंबगत, कभी प्रतीकगत तो कहीं अलंकारगत चित्रण किया है। उनके यहाँ इन परम्पराओं को सायास नहीं बल्कि अनायास ही प्रस्तुत किया गया है। रात्रि की बेला है जिसमें अलंकार, बिम्ब और प्रतीक का अनायास संयोग जुड़ रहा है। इस कविता में रात व आकाश का मानवीकरण हो रहा है। जहाँ आकाश पहरेदारों का प्रतीक है।

रात के बोझिल सन्नाटे ने स्वयं को कोसा
आकाश के सहज पहरेदारों की आँखें सुर्ख हुई
हवा में दौड़कर
मुंडारी अंचल को हिम्मत बंधाई ....।"[13]

आज मनुष्य आधुनिकता के होड़ में कहीं खो गया है। कवि उस दुष्चक्र में मनुष्य को खोज रहा है। यह समस्या आज के मनुष्य की समस्या है।

मनुष्यों की भीड़ में मैं स्वयं ढूढ़ता मनुष्य को
खो गया जो कहीं
दृष्टिहीन सभ्यता के जंगलों में
सृष्टिहीन संस्कृति के दंगलों में
इतिहास के पिछवाड़े में पड़े हो तुम
मांगते हो जगह उस इतिहास में
हो रहा है अंत जिसका मनुष्यत्व के ह्रास में ?
भूल जाओ / यह मिथक परिकल्पना का कालखंड
स्वप्न सभी एक–एक हारे हैं कौन।"[14]

हरिराम मीणा वरिष्ठ कवि हैं। उनका अनुभव उनकी कविताओं के कथ्य में भी दिखाई देता है। इस कविता में उन्होने मेघदूत के माध्यम से आज की समस्याओं को उठाया है। आज का सभ्य समाज दुनिया को एक सही रास्ता नहीं दिखा पा रहा है। जहां एक ओर व्यक्ति केन्द्रित दुनिया होती जा रही है वहीं समस्या बढ़ती जा रही है।

लिहाजा आज पूरा समाज चतुर्दिक समयाओं से घिर गया है। कवि मेघदूत को बिम्ब के रूप में प्रयोग करके आज की समस्या की चर्चा कर रहे हैं।

पूछूंगा / बताओ ओ, मेघदूत !
तुम अलकापुरी गए या नहीं
गए, तो क्या देखा यथार्थ उस नगर का
नगर की व्यवस्था का / व्यवस्था के नेतृत्व का
नेतृत्व के दुपचक्रों का? / वास्तविक क्या थी यक्ष के निर्वासन की
निर्वासन की पृष्ठभूमि की परंपरा की
परंपरा के अत्याचारों की?
इतिहास और मिथकों ने जो हमें बताया
क्या वह झूठ नहीं था / विरूपताओं का गौरवज्ञान नहीं था
निरादम्भ और छल नहीं था / विगत के सहारे
भविष्य निर्माण में / अवरोध नहीं था।"[15]

वास्तव में आदिवासी हिन्दी कविता के बिम्ब सीधे समाज के बीच से अपना विषय चुनता है। चूंकि आदिवासी कविता में प्रतीक, बिम्ब और मिथक का प्रयोग उनकी संस्कृति के साथ जुड़ा हुआ रहता हैं। आदिवासी कविता में मिथक लोक परंपरा के साथ जुड़ता है और प्रकृति के साथ गहरा संबंध रहता है। उनके मिथक समाज और संस्कृति के साथ जुड़ते हैं जो कि प्रचलित मिथकों से बिल्कुल अलग ही रहते हैं तथा उनका मिथक प्राचीनतम ग्रन्थों से संपृक्त रहता है। इस तरह इनकी कविता में प्रसंग अनायास ही जुड़ते चले आते हैं यही इनकी कविता की पहलकदमी है। आदिवासी कविता एक जमीन तैयार करने का काम करती है जो कि आदिवासी समाज और साहित्य के पहलुओं को समझने में मददगार साबित होती है।

संदर्भ–सूची :–

1. सिंह, बच्चन. (2001). आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. 77।
2. सिंह, नामवर. (2016). कविता के नए प्रतिमान. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृ. 117।
3. पुतुल, निर्मला. (2005). नगाड़े की तरह बजते शब्द. नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ. पृ. 84–85।
4. मांडी, आदित्य कुमार. (2015). पहाड़ पर हूल फूल. झारखण्ड : प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन. पृ. 26।
5. लुगुन, अनुज. (2017). बाघ और सुगना मुंडा की बेटी. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. 33।
6. पुतुल, निर्मला. (2005). नगाड़े की तरह बजते शब्द. नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ. पृ. 17।
7. वही, पृ. 17।
8. एक्का, विश्वासी. (2018). लछमनिया का चूल्हा. झारखण्ड : प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन. पृ. 31।
9. टेटे, वंदना. (2015). कोनजोंगा. झारखण्ड : प्यारा केरकेटटा फाउंडेशन. पृ. 23।
10. मिश्र, सत्यदेव. (2016). पाश्चात्य काव्यशास्त्र अधुनातन सन्दर्भ. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन. पृ. 49।
11. थ्योंगो, न्गुगी वा. (1999). औपनिवेशिक मानसकिता से मुक्ति. अनु. : आनंदस्वरूप वर्मा. नई दिल्ली : ग्रंथ शिल्पी. पृ. 116।
12. लुगुन, अनुज. (2017). बाघ और सुगना मुंडा की बेटी. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. 62 मीणा, हरिराम. (2008). सुबह के इंतजार में. दिल्ली : अक्षर शिल्पी. पृ. 13।
13. मीणा, हरिराम. (2017). रोया नहीं था यक्ष. दिल्ली : शिल्पायन. पृ. 12।
14. वही, पृ. 13।

भारतीय आज़ादी में महिलाओं का योगदान

डॉ. अंगदकुमार सिंह *

सार संक्षेप : भारतीय आज़ादी में पुरुषों के साथ–साथ महिलाओं ने भी बढ़–चढ़कर हिस्सा लिया और सहभाग किया। महिलाओं ने जिस साहस, सहिष्णुता और वीरता के साथ आज़ादी में अपनी भूमिका का निर्वहन किया वह इतिहास की धरोहर है और भावी पीढ़ी के लिए प्रेरणास्रोत भी। सन् 1957 का विद्रोह भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का ऐसा विस्फोट था, जिसका प्रतिनिधित्त्व एक महिला द्वारा किया गया। उसने वीरता, पराक्रम और दिलेरी दिखाते हुए ऐसा अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत किया जो 'न भूतो न भविष्यति' साबित हुआ। मई, 1857 के अन्त में अवध में विद्रोह को भड़काने में बेगम हजरत महल ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में हजारों की संख्या में महिलायें अपने घरों से बाहर निकलीं और तन–मन से इस आन्दोलन में सहभाग किया। उस समय राष्ट्रीय स्तर पर श्रीमती सरोजनी नायडू, अरुणाआसिफ अली, श्रीमती सुचेता कृपलानी, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, कस्तूरबा गाँधी, विजयलक्ष्मी पण्डित, मुत्तुलक्ष्मी रेड्डी, एनी बेसेण्ट, हंसा मेहता तथा राजकुमारी अमृता कौर जैसी अनेक महिलाओं ने योगदान दिया। स्त्रियों के द्वारा अपने लिए मताधिकार की माँग को लेकर लड़ना हो या देश को आज़ाद कराने में अपना सर्वस्व न्यौछावर करने की बात हो, सभी क्षेत्रों में पूरी तत्परता के साथ काम किया। वैदिककाल के बाद भले ही नारी इस समय पुरुषों से अनेक क्षेत्रों में पीछे थी लेकिन इन्होंने पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर अपने देश को आज़ाद कराने में भाग लिया। असंख्य महिलाओं के स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग लेने के कारण ही आज़ादी का यह महान आन्दोलन सक्रिय बन पड़ा। स्त्रियों ने देश के प्रति प्रेम–भावना का परिचय देते हुए आज़ादी में बढ़–चढ़कर अपना योगदान दिया।

की वर्ड : भारतीय आज़ादी, राजनीतिक मंच, महिला जागरूकता, विद्रोह, बंगभंग, क्रांतिकारी।

साहित्य समीक्षा : भारतीय आज़ादी में पुरुषों के साथ–साथ महिलाओं ने भी बढ़–चढ़कर हिस्सा लिया और सहभाग किया। महिलाओं का योगदान इसलिए भी अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उनका सामाजिक उत्थान हुए अभी अधिक समय नहीं हुआ था। महिलाओं ने जिस साहस, सहिष्णुता और वीरता के साथ आज़ादी में अपनी भूमिका का निर्वहन किया वह इतिहास की धरोहर है और भावी पीढ़ी के लिए प्रेरणास्रोत भी। सन् 1957 का विद्रोह भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का ऐसा विस्फोट था, जिसका प्रतिनिधित्त्व एक महिला द्वारा किया गया। उसने वीरता, पराक्रम और दिलेरी दिखाते हुए ऐसा अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत किया जो 'न भूतो न भविष्यति' साबित हुआ। अंग्रेज़ सर ह्यूरोज को झाँसी की रानी के अद्भुत पराक्रम से चकित होकर प्रशंसा करते हुए कहना पड़ा कि, ''सैनिक विद्रोह के नेताओं में महारानी लक्ष्मीबाई सर्वाधिक बहादुर और सर्वश्रेष्ठ थीं।''[1] रामगढ़ की रानी ने जहाँ युद्धक्षेत्र में लड़ते–लड़ते प्राणों की आहुति दे दी वहीं बेगम हजरत महल अंग्रेज़ों के समक्ष आत्मसमर्पण कर अपमानित होने के बजाय नेपाल की ओर चल पड़ी तथा वनवास के दौरान ही उनकी मृत्यु हुई तो जीनत महल को बर्मा में निर्वासित कैदी–रूप में जीवन व्यतीत करना पड़ा।

1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना ने महिलाओं को एक राजनीतिक मंच प्रदान किया। इसकी स्थापना के कुछ समय पश्चात् कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में भारतीय महिलाएँ प्रतिनिधि के रूप में सहभाग करने लगीं। 1890 के कलकत्ता अधिवेशन में स्वर्ण कुमारी देवी और श्रीमती कादम्बिनी गांगुली ने भाग लिया। श्रीमती गांगुली प्रथम ऐसी महिला थीं जिन्होंने राष्ट्रीय कांग्रेस के मंच से अपना पहला उद्बोधन दिया।

*** असिस्टेण्ट प्रोफेसर : हिन्दी, जवाहरलाल नेहरू पी.जी. कॉलेज, बाँसगाँव, गोरखपुर (उ.प्र.), भारत – 273403।**

यह सम्भवतः भारतीय महिलाओं का राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रवेश का आगाज़ था, इसके बाद मातृभूमि के लिए राजनैतिक गतिविधियों में सहभाग करने वाली महिलाओं की संख्या में लगातार इज़ाफा होता चला गया। इन महिलाओं को उत्साहित एवं संगठित करके एक लक्ष्य महात्मा गाँधी ने 1920 में असहयोग आन्दोलन का संचालन कर दिया। इससे स्त्रियों को न केवल एक उद्देश्य मिला अपितु उन्हें एक नयी दिशा भी मिली। जब 1930 में गाँधी जी ने 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' चलाया तो बड़ी संख्या में महिलाओं ने सत्याग्रह में बढ़–चढ़कर हिस्सा लेकर अपनी शक्ति और क्षमता का परिचय दिया। स्वदेशी प्रचार के पक्ष में वातावरण सृजन के लिए विदेशी वस्त्रों की होली जलाई जाने लगी। शराब की दुकानों को धरना देकर बन्द कराई जाने लगी। उसी तरह 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में हजारों की संख्या में महिलायें अपने घरों से बाहर निकलीं और तन–मन से इस आन्दोलन में सहभाग किया तथा संगठित रूप से कर्तव्य के प्रति समर्पित होकर एवं अनेक यातनाओं को सहते हुए राजनीतिक गतिविधियों की बागडोर ऐसे समय में सम्भाली जब अधिकांश राष्ट्रीय नेताओं को ब्रिटिश सरकार ने सींख़चों में जकड़ रखा था। उस समय राष्ट्रीय स्तर पर श्रीमती सरोजनी नायडू, अरुणाआसिफ अली, श्रीमती सुचेता कृपलानी, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, कस्तूरबा गाँधी, विजयलक्ष्मी पण्डित, मुत्तुलक्ष्मी रेड्डी, एनी बेसेण्ट, हंसा मेहता तथा राजकुमारी अमृता कौर जैसी अनेक महिलाओं ने योगदान दिया।

निःसन्देह गाँधी जी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन से लेकर भारत की आज़ादी तक महिलाओं का राष्ट्रीय आन्दोलन में जो योगदान था, वह भारतीय परिवेश में उनकी जागरूकता एवं परिवर्तनों को स्पष्ट करता है। महिलाओं में सदियों से चली आ रही रूढ़िवादिता, अंधविश्वास तथा सामाजिक पिछड़ेपन की स्थिति को गाँधीजी के दर्शन ने बदल दिया। उनकी भीरूता का स्थान साहस ने ले लिया तो अंधविश्वास और रूढ़िवादिता का स्थान जागरूकता ने। अब स्त्रियों में भी राजनीति चेतना स्पष्ट होने लगी। एक तरह से भारतीय महिलाओं के उत्थान का यह स्वर्णिम अवसर था।

हमारे यहाँ युद्ध में अनेक देवियों ने शत्रुओं के दाँत खट्टे किये हैं। 1857 के स्वतन्त्रता–संग्राम में अनेक वीरांगनाओं ने देश के लिए प्राणों का उत्सर्ग किया। देश के लिए प्राणों का उत्सर्ग करने वाली वीरांगनाओं में **झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई** का नाम अग्रण्य है। जिन नारियों ने भारत माता के गौरव को ऊँचा किया है, उनमें महारानी लक्ष्मीबाई महान थीं। यही वह महिला थीं, जिसने भारत की आज़ादी की मशाल लेकर हँसते हुए अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया। उनका शौर्य, साहस और बलिदान हमेशा भारतीय महिलाओं को वीरता की प्रेरणा देता रहेगा। हिन्दी के अनेक कवियों ने रानी की वीरता का गुणगान किया है। सुभद्राकुमारी चौहान ने इनके बारे में लिखती हैं कि, ''बुन्देलो हर बोलो के मुँह हमने सुनी कहानी थी / खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।''

10 मई, 1857 को मेरठ में विद्रोह के आरम्भ होने के बाद 30 मई, 1857 को अवध में विद्रोह की घोषणा की गयी।[2] अंग्रेजों के विरुद्ध इस विद्रोह की नेता अवध के नवाब वाजिद अली शाह की **बेगम हजरत महल** थीं।[3] बेगम हजरत महल एक नर्तकी थी।[4] अपने सौन्दर्य व गुणों के कारण वे अवध के अन्तिम नवाब वाजिद अली शाह की बेगम बन गयीं। सुन्दरता के साथ–साथ हजरत महल में प्रशासनिक योग्यता कूट–कूटकर भरी हुई थी। उनका व्यक्तित्व आकर्षक और मोहक था। मई, 1857 के अन्त में अवध में विद्रोह को भड़काने में बेगम हजरत महल ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। शीघ्र ही विद्रोह की चिंगारी अवध के अन्य प्रदेशों में भी फैल गयी। जून, 1857 के अन्त तक लखनऊ की रेजीडेण्सी, जहाँ अंग्रेजों ने शरण ली थी, शहर के अन्य भागों पर विद्रोहियों का अधिकार हो चुका था।

जब कानपुर में क्रांति की अग्नि प्रज्वलित हुई तो उसमें कानपुर की वीरांगना **अजीजन बेगम** का प्रशंसनीय योगदान था। अजीजन बेगम अपने समय की प्रसिद्ध नर्तकी थी।[5] कानपुर में क्रांति के शुरू होने पर अजीजन ने वीर, साहसी और निर्भय महिलाओं की एक टुकड़ी तैयार की।[6] उस महिला सैनिक दल की

वीरांगनाएँ पुरुष–वेश में घोड़ों पर सवार होकर हाथ में नंगी तलवार लेकर निकल पड़ी, वे पुरुषों को आज़ादी के संग्राम में सम्मिलित होने के लिए कहती एवं वे घायलों की सेवा–सुश्रूषा करती तथा युद्धरत सैनिकों को दूध, मिठाई और फल बाँटती। जब आवश्यकता पड़ती तो रणभूमि में संकट तथा गोली–वर्षा की परवाह न कर युद्धरत सैनिकों को कारतूस पहुँचाती। यह सब वीरांगना अजीजन की प्रेरणा तथा नेतृत्व का चमत्कार था कि परदे में रहने वाली स्त्रियाँ रणभूमि में आ गयी थीं।

हिन्दुस्तान में बींसवी सदी का उदय **स्वदेशी आन्दोलन** के उदय के साथ जुड़ा है। स्वदेशी आन्दोलन वास्तव में बंगाल–विभाजन के विरोध में एक आन्दोलन के रूप में पैदा हुआ। उस समय उड़ीसा और बिहार भी इसी राज्य के हिस्से थे। असम 1874 में ही अलग हो गया था। इतने बड़े राज्य का प्रशासन चलाना वास्तव में कठिन था, लेकिन अंग्रेजों ने इस राज्य के बँटवारे का फैसला प्रशासनिक कारणों से नहीं, बल्कि राजनीतिक कारणों से लिया। 20वीं सदी के आरम्भ से ही आभास हो रहा था कि भारत में राष्ट्रीय चेतना विकसित होकर जुझारू रूख अख़्तियार कर रही थी। भारतीय राष्ट्रीय चेतना का केन्द्र था बंगाल। अंग्रेजों द्वारा बंग–भंग का क़दम इसी जुझारू चेतना पर आघात करने और **'फूट डालो और राज करो'** की नीति के अन्तर्गत उठाया गया था, जिसका तीव्र विरोध हुआ।

देश में आज़ादी प्राप्ति के लिए न केवल भारतीय नेताओं ने अपनी जान की बाजी लगायी बल्कि अनेक विदेशी नागरिकों ने भी भारत को आज़ादी दिलाने में अपना योगदान दिया। भारत के स्वतंत्रता–संग्राम में **एनी बेसेण्ट** और उनके **होमरूल आन्दोलन** का विशेष योगदान रहा। एनी बेसेण्ट का जन्म अक्टूबर, 1847 में लन्दन में हुआ था। 1893 में एनी बेसेण्ट थियोसोफिकल सोसाइटी के आमन्त्रण पर भारत पहुँचीं।[7] एनी बेसेण्ट हिन्दू धर्म से बहुत प्रभावित थी। उन्होंने हिन्दू धर्म, दर्शन और संस्कृति के अध्ययन के साथ–साथ हिन्दू आचार–व्यवहार को भी आदर की दृष्टि से देखा। एनी बेसेण्ट ने भारतीयों को अपनी मान्यताओं के प्रति सम्मान करना सिखाया।

क्रांतिकारी राष्ट्रवाद अथवा आतंकवाद लाल–बाल–पाल और घोष आदि के राजनीतिक उग्रवाद से सर्वथा भिन्न था। उग्रवादी उदारवादियों की राजनीतिक भिक्षावृत्ति की नीति से असन्तुष्ट होकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध सक्रिय विरोध का प्रतिपादन करते थे, लेकिन यह विरोध अथवा संघर्ष शान्तिमय और दबावपूर्ण होता था जिसमें हिंसा और तोड़–फोड़ को कोई प्रश्रय नहीं दिया गया था। इसके विपरित क्रांतिकारियों ने हिंसा और तोड़–फोड़ को अपना हथियार बनाया।

क्रांतिकारी 'बम नीति' में विश्वास करते थे। आज़ादी प्राप्ति के लिए उन्होंने गुप्त व खुली हत्याओं द्वारा सरकारी सम्पत्ति के विनाश, तोड़–फोड़ आदि का सहारा लेने को अनुचित नहीं समझा। आतंकवादी– क्रांतिकारी कोरे हत्यारे या डाकू नहीं थे। वे देशभक्त थे और मातृभूमि के लिए सिर कटा देने की तमन्ना रखते थे। क्रांतिकारी विदेशी शासकों के दिल में यह भय पैदा करना चाहते थे कि देशभक्तों की हत्याओं का बदला हत्याएँ होंगी। मिरेण्ड के सहायक लेफ्टिनेण्ट जनरल डायर, साण्डर्स आदि ब्रिटिश अधिकारियों की हत्याओं और 1907 में मिदनापुर के निकट उपगर्वनर की रेलगाड़ी उड़ाने के प्रयास, क्रांतिकारियों द्वारा किये गये।[8] क्रांतिकारी अथवा आतंकवादी का विस्फोट महाराष्ट्र में हुआ, जहाँ 1899 में मिरेण्ड तथा ले. आयरेस्ट को गोली का शिकार बनाया गया। महाराष्ट्र में वीर सावरकर, श्यामजी वर्मा, गणेश सावरकर और चापेकर बन्धु, बंगाल में वीरेन्द्रकुमार घोष, भुवेन्द्रनाथ दत्त, पंजाब में सरदार अजीत सिंह, भाई परमानन्द, बालमुकुन्द तथा लाला हरदयाल प्रमुख क्रांतिकारी नेता थे। इंग्लैण्ड में श्याम जी, कृष्णा वर्मा, फ्रांस में मैडम कामा और अमेरिका में लाल हरदयाल ने क्रांतिकारी गतिविधियो का संचालन किया।

आज़ादी आन्दोलन की क्रांतिकारी महिलाओं में एक और प्रमुख नाम उभरकर आता है– 'दुर्गा भाभी' का। दुर्गा भाभी का जन्म 7 अक्टूबर, 1907 को इलाहबाद में हुआ था। दुर्गा भाभी भगवती बाबू जैसे महान क्रांतिकारी की पत्नी थीं। उन्होंने अपने पति की क्रांतिकारी गतिविधियों में पूरा सहयोग दिया। वे दल के लिए पैसा इकट्ठा करती थीं, क्रांति से सम्बन्धित परचे बाँटती थीं, घर पर आये क्रांतिकारियों का स्वागत–सत्कार करती थीं, उन्हें आश्रय देती थीं। भगत सिंह द्वारा साण्डर्स की हत्या करने पर वह भगत की पत्नी के रूप में उनके साथ कलकत्ता गयी। भाभी ने इस जोखिम भरे रास्ते में आवश्यकता पड़ने पर उपयोग के लिए पिस्तौल भी छिपा रखी थीं।[9] भगवती बाबू अपनी पत्नी के इस साहसपूर्ण कार्य पर बहुत प्रसन्न हुए। भाभी ने गाँधी जी से अन्य क्रांतिकारियों के साथ भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु को छुड़ाने की शर्त वायसराय के सामने रखने के लिए कहा।[10] मुम्बई में भाभी ने बाबा पृथ्वी सिंह, आज़ाद के सहयोग से पुलिस कमिश्नर हेली को मारने की योजना बनायी लेकिन वह योजना सफल न हो सकी। इतिहास साक्षी है कि इस आदर्श पति–पत्नी ने वास्तव में ही क्रांतिकारी देशभक्तों के साथ भैया–भाभी का सम्बन्ध निभाया। सरला देवी जिन्होंने स्वदेशी आन्दोलन और बंग–भंग आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थीं, अनेक क्रांतिकारी गतिविधियों में भाग लिया और 1905 में बंगाल व पंजाब के क्रांतिकारियों के बीच सम्पर्क सूत्र का काम किया।

निष्कर्ष : समग्रतः महिलाओं ने देश की आज़ादी रूपी समर की प्रत्येक रणनीति में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया। स्त्रियों के द्वारा अपने लिए मताधिकार की माँग को लेकर लड़ना हो या देश को आज़ाद कराने में अपना सर्वस्व न्यौछावर करने की बात हो, सभी क्षेत्रों में पूरी तत्परता के साथ काम किया। वैदिककाल के बाद भले ही नारी इस समय पुरुषों से अनेक क्षेत्रों में पीछे थी लेकिन इन्होंने पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर अपने देश को आज़ाद कराने में भाग लिया। असंख्य महिलाओं के स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग लेने के कारण ही आज़ादी का यह महान आन्दोलन सक्रिय बन पड़ा। स्त्रियों ने देश के प्रति प्रेम–भावना का परिचय देते हुए आज़ादी में बढ़–चढ़कर अपना योगदान दिया। शान्तिप्रिय आन्दोलनों से लेकर क्रांतिकारी आन्दोलनों में महिलाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। महिलाओं ने राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में अपने आपको विविध आयामों के साथ प्रस्तुत किया।

संदर्भ–सूची :–

1. चन्द्र विपिन, भारत का स्वतन्त्रता–संघर्ष, पृष्ठ 2
2. गुप्त विश्वप्रकाश और गुप्त मोहिनी, स्वतन्त्रता–संग्राम और महिलाएँ, पृष्ठ 94
3. माथुर एल. पी., भारत की महिला स्वतन्त्रता सेनानी, पृष्ठ 15
4. सक्सेना शालिनी, स्वाधीनता आन्दोलन में मध्यप्रान्त की महिलाएँ, पृष्ठ 2
5. वोहरा आशारानी, महिलाएँ और स्वराज्य, पृष्ठ 146
6. शुक्ल प्रयागदत्त, क्रांति के चरण, पृष्ठ 84
7. शमीम मोहम्मद, छत्तीसगढ में गाँधीवादी आन्दोलन में छात्रों की भूमिका, पृष्ठ 19
8. एग्न्यू विजय, वीमने इन इण्डियन पालिटिक्स, पृष्ठ 8
9. गौड़ राजलक्ष्मी, नारी जागरण और गाँधी जी (लेख), मध्यप्रदेश संदेश, 1971
10. जीवन्तराम भगवानदास, महात्मा गाँधी जी जीवन और चिन्तन, पृष्ठ 91

लोकतांत्रिक व्यवस्था में चतुर्थ स्तम्भ के रूप में पत्रकारिता का दायित्व

डॉ. राकेश कुमार*

पत्रकारिता को लोकतंत्र के चतुर्थ स्तम्भ के रूप में दर्जा मिला है। पत्रकारिता जनता को जानकारी देती है कि किस जगह कानून का उल्लंघन हो रहा है तथा तीनों स्तम्भ अपनी जिम्मेदारी तथा निष्ठा से कार्य कर रहे हैं या नहीं। इस जानकारी के पश्चात् निर्णय लेने की पूरी शक्ति जनता के विवेक पर निर्भर करती है। पत्रकारिता जो कि जनता तथा शासन दोनों के बीच एक माध्यम का काम करती है। अब यह चतुर्थ स्तम्भ भी पूरी निष्ठा व जिम्मेदारी से काम करे इसकी जिम्मदारी जनता की बनती है कि जनता अपने विवेक से पत्रकारिता द्वारा दी गयी जानकारी का सही प्रयोग करे। यहीं से लोकतंत्र मजबूत होता है। लोकतंत्र का घेरा लोगों द्वारा बनायी गयी विधायिका से चलकर, कार्यपालिका, न्यायपालिका व पत्रकारिता से होते हुए पुनः लोगों के पास ही आ जाता है। इस प्रकार लोकतंत्र इन चार स्तम्भों पर टिका है। इन चारों स्तम्भों की मजबूती से ही मिलकर एक मजबूत लोकतंत्र का निर्माण होता है। बाबूराव विष्णुराव पराड़कर ने कहा है कि ''लोक शिक्षण ही हमारा पत्रकारिता या पत्रकारों का सच्चा धर्म है।'[1] लोकतंत्र की एक सर्वमान्य परिभाषा तो नहीं दी जा सकती है परन्तु जिन देशों में संविधान के साथ–साथ लोकतंत्र भी है। उसके अनुसार हम लोकतंत्र की परिभाषा का अनुमान लगा सकते हैं कि लोकतंत्र जनता का, जनता के लिए तथा जनता के द्वारा किया गया शासन है। जिसका मतलब जनता द्वारा अपने शासक को मतदान की प्रक्रिया के द्वारा चुना जाता है। तथा उस शासक का कर्तव्य है कि वह जनता के हित में कार्य करे। ऐसा नहीं होने पर जनता अगले चुनाव में उस शासक को अपना मत न देकर किसी दूसरे प्रतिनिधि को चुन सकती है। जिससे हम कह सकते हैं कि यह जनता के द्वारा किया गया शासन है।

पत्रकारिता को लोकतंत्र का चतुर्थ स्तम्भ इसलिए भी कहा जाता है क्योंकि इसके द्वारा ही विभिन्न विषयों पर सरकारी नीतियों के अतिरिक्त शिक्षा, स्वास्थ्य, जनकल्याण एवं विकास की सरकारी योजनाओं की जानकारी आम जनमानस तक पहुँचाता है तथा जनता की आवश्यकताएँ, समस्याएं और अपेक्षाएँ इसके द्वारा सरकार तक पहुँचती हैं। पत्रकारिता एक सजग प्रहरी की भाँति प्रशासन में पारदर्शिता सुनिश्चित करने के लिए योजनाओं के क्रियान्वयन में विसंगतियों व घोटाले उजाकर कर कर्मचारियों में ईमानदारी, सेवा, त्याग व कर्तव्यपरायणता को प्रोत्साहित करती है। वर्तमान समय में भूमण्डलीकरण व उपभोक्तावादी संस्कृति के प्रभाव से पत्रकारिता जगत भी अछूता नहीं है पत्रकार भी वैसा लिखता और दिखाता है जैसा उसके मालिक कहते हैं। मीडिया के मालिक भी आज सरकार समर्थक अथवा सरकारी विरोधी इन दो पार्टियों में बँट गये हैं। बाबूराव विष्णुराव पराड़कर ने कहा है कि ''एक समय आयेगा जब हिन्दी पत्र रोटरी पर छपेंगे, सम्पादकों को ऊँची तनख्वाहें मिलेंगी, सब कुछ होगा किन्तु उनकी आत्मा मर जायेंगी, सम्पादक सम्पादक न होकर मालिक का नौकर होगा।'[2] निष्पक्ष पत्रकारिता वर्तमान समय में आदर्शवाद की बात हो गयी है। वर्तमान समय में मीडिया ही जनता को जागरूक, भ्रमित और विद्रोही बना रही है। आज मीडिया को आम जनमानस की चिन्ता से ज्यादा अपनी टी0आर0पी0 रेटिंग और प्रसारण संख्या (सर्कुलेशन) की होती है। वर्तमान समय की मांग है कि मीडिया आपसी प्रतिद्वन्दिता छोड़कर जनकल्याण को लक्ष्य बनाकर स्वतंत्र एवं निष्पक्ष रूप में अपनी भूमिका का निर्वाहन

*** असि0 प्रोफेसर, एस0एस0वी0 पी0जी0 कॉलिज, हापुड़।**

करना चाहिए तथा स्वस्थ समाज व सशक्त राष्ट्र के निर्माण में भागीदार बनना चाहिए। पत्रकारिता लोकतंत्र का चौथा स्तम्भ होने के कारण लोकतांत्रिक व्यवस्था में इसकी भूमिका और महत्वपूर्ण हो जाती है। मीडिया की विश्वसनीयता जनता के सरोकारों और जनविश्वासों पर ही टिके होते हैं। इसलिए आवश्यक है कि मीडिया जनसरोकारों के प्रति सत्यनिष्ठ रहे। पत्रकार का कर्तव्य है कि वह देश के जनमानस को पढ़े और निर्भीक होकर उनकी भावनाओं की मुखर अभिव्यक्ति करे। पत्रकारिता का उद्देश्य मानव सेवा ही होना चाहिए। भारतीय लोकतंत्र का चतुर्थ स्तम्भ मीडिया लोगों के विचारों को प्रभावित करने या परिवर्तित करने में अहम भूमिका निभाता है। इसकी भूमिका द्वारा न केवल राष्ट्र के समक्ष उपस्थित समस्याओं का समाधान खोजना शामिल है, बल्कि लोगों को शिक्षित तथा सूचित भी करना है। ताकि लोगों में समालोचनात्मक जागरूकता को बढ़ावा दिया जा सके। परन्तु वर्तमान समय में उनका झुकाव सत्य की खोज के बजाय वाणिज्यिक हितों की ओर अधिक है। भारतीय प्रेस परिषद् के अनुसार ऐसी खबरें जो प्रिंट या इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में नगद या अन्य लाभ के बदले में प्रसारित किये जा रहे हों पेड न्यूज कहलाते हैं। हालांकि यह साबित करना अत्यन्त कठिन कार्य है कि किसी चैनल पर दिखाई गयी विशेष खबर या समाचार पत्र में छपी न्यूज पेड न्यूज है। पेड न्यूज का कारण भारत में अधिकतर मीडिया समूह कारपोरेट के स्वामित्व वाले है तथा वे केवल लाभ के लिए कार्य करते हैं। यद्यपि अनुच्छेद (19ए) मीडिया की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता सुनिश्चित करता है। परन्तु मीडिया को भी अपने कार्यों एवं कर्तव्यों की समीक्षा करनी चाहिए। बाबूराव विष्णुराव पराड़कर ने कहा है कि "पत्रों की उन्नति के साथ–साथ पत्रों (पत्रिकाओं) पर भी धनियों का प्रभाव अधिकाधिक परिणाम में अवश्य पड़ेगा। अभी तो धनी अपने प्रत्यक्ष स्वार्थ से प्रेरित होकर इस काम में धन लगाते हैं। आर्थिक दृष्टि से समाचार–पत्रों की सफलता दृष्टिगोचर होते ही व्यापारी इसमें लाभ करने की दृष्टि से पड़ने लग जायेंगे।'[3]

चतुर्थ स्तम्भ में शब्दों के द्वारा वकालत करने की स्पष्ट क्षमता और राजनीतिक, सामाजिक मुद्दों को तैयार करने की निहित क्षमता प्रेस और समाचार मीडिया में होती है। हालांकि इसे औपचारिक रूप से राजनीतिक व्यवस्था के हिस्से के रूप में पहचाना नहीं गया है लेकिन यह महत्वपूर्ण अप्रत्यक्ष सामाजिक प्रभाव को नियंत्रित करता है। चतुर्थ स्तम्भ आमतौर पर समाचार मीडिया, पत्रकारिता और प्रेस को संदर्भित करता है। इसके साथ लोगों के प्रहरी होने की जिम्मेदारी भी निभाता है। वर्तमान समय में इंटरनेट द्वारा सक्षम घर्षणरहित वितरण डिजिटल सूचना के विघटनकारी प्रभावों से अब सभी को खतरा है क्योंकि पारम्परिक अखबार के पाठक अब कम हो रहे हैं। एम0वेंकैया नायडु ने कहा कि "शब्दों का सौन्दर्य, विचारों का विस्तार, पत्रकारिता की गम्भीरता, अभिव्यक्ति की मर्यादा– अखबार के पन्नों में ही दिखते हैं। टेक्नोलॉजी के इस युग में मीडिया के नये माध्यम तो आयेंगे ही लेकिन लिखे हुए शब्दों की मर्यादा सदैव बरकरार रहेगी।'[4]

अखबारों की खबरों के आधार पर जनता जागरूक रहती है। निर्भीक, लालचरहित, पक्षपातरहित तथा सजग पत्रकारिता द्वारा तानाशाही से निपटा जा सकता है तथा लोकतंत्र सुरक्षित रहता है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया भी पत्रकारिता का एक भाग है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में सुधार तथा चतुर्थ स्तम्भ के रूप में पत्रकारिता का दायित्व अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि पत्रकारिता अधिकार का वह क्षेत्र है जिसके द्वारा शासन–प्रशासन के कार्यों को उजागर किया जा सकता है। कभी–कभी शासन–प्रशासन द्वारा इस तरह के कार्य किये जाते हैं जो कि जनसामान्य को ध्यान में रखकर नहीं किये जाते तब पत्रकारिता शासन–प्रशासन को सजग करती है कि वह ऐसी योजनाएँ संचालित करें जिससे जनसामान्य को लाभ पहुँचे।

पत्रकार व पत्रकारिता के बिना लोकतंत्र अधूरा है। पत्रकार लोकतांत्रिक व्यवस्था के योद्धा हैं। राष्ट्र व लोकतंत्र की रक्षा में पत्रकारिता की भूमिका महत्वपूर्ण है। क्योंकि "संसद और मीडिया एक–दूसरे के सहयोगी हैं। दोनों ही संस्थान जनभावनाओं को अभिव्यक्ति देते हैं।'[5] वर्तमान समय में मीडिया का एक समूह सरकार की चाटुकारिता में लगा है जो लोकतंत्र के लिए घातक है। आज की स्थिति में पत्रकारों की जिम्मेदारी और बढ़ गई

है। पत्रकारिता के इस बदलते दौर में पत्रकारों को दोतरफा जूझना पड़ता है। अधिकतर अखबार मालिक सत्ता में बैठे पार्टियों से तालमेल बनाये रखना चाहते हैं। ऐसे में पत्रकारों को अपने दायित्व का निर्वाहन करने के साथ–साथ नौकरी बचाने की भी चुनौती से जूझना पड़ता है। वर्तमान समय में पत्रकारिता एक व्यवसाय, एक उद्योग बन गया है। जिसका सूत्रधार बन चुका है– पूँजीपति। यह पूँजीपति किसी भी अन्य व्यवसाय की तरह पत्रकारिता के व्यवसाय की ओर आकृष्ट होकर, इसमें पर्याप्त पूँजी लगाता है, पत्र–पत्रिकाओं का प्रकाशन करता–कराता है और उनके अधिकाधिक प्रचार–प्रसार तथा विज्ञापनादि से भारी मुनाफा कमाता है। हिन्दी पत्र आज के यशस्वी सम्पादक श्री बाबूराव विष्णुराव पराड़कर जी ने कहा है कि "पूँजीपतियों का इतना अधिक प्रभाव पत्रों पर पड़ता है कि उनकी सहायता के बिना पत्र निकालना सर्वथा असम्भव हो जाता है।........भावी हिन्दी समाचार–पत्रों में भी ऐसा ही होगा। पत्र निकालकर सफलतापूर्वक चलाना बड़े–बड़े धनियों अथवा सुसंघटित कम्पनियों के लिए ही सम्भव होगा। पत्र सर्वांग सुन्दर होंगे, आकार बड़े होंगे। छपाई अच्छी होगी। मनोहर, मनोरंजक और ज्ञानवर्धक चित्रों से सुसज्जित होगी....... ग्राहकों की संख्या लाखों में गिनी जायेगी। यह सब कुछ होगा पर पत्र प्राणहीन होंगे।..... वेतनभागी सम्पादक मालिक का काम करेंगे और बड़ी खूबी के साथ करेंगे। वे हम लोगों से अच्छे होंगे। पर आज भी हमें जो स्वतंत्रता प्राप्त है, वह उन्हें न होगी।'[6]

वर्तमान समय की इस व्यवसायपरक पत्रकारिता की स्थिति में कर्मठता और सामाजिक दायित्व की बात करना अजूबा हो सकती है अजीब नहीं। पत्र–पत्रिकाएँ सच्चे अर्थों में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक एवं अन्यान्य क्षेत्रों का दर्पण होती है। ये जनता की वाणी होती हैं, दलितों–शोषितों का अस्त्र होती हैं, आम आदमी और शासन तंत्र के मध्य एक सेतु होती हैं और उसके बीच एक संवाद भी। पत्र–पत्रिकाओं की निर्भीक वाणी ही न्यायसंगत सामाजिक व्यवस्था की स्थापना में सहायक हो सकती है, इसलिए जन–जागृति एवं दायित्व बोध के गुरुतर दायित्व का निर्वाह पत्रकारिता को करना चाहिए। आदर्श मानव–समाज में युगीन निर्माण एवं शाश्वत मानव–मूल्य की स्थापना का प्रयास पत्रकारिता को करना चाहिए। देशभक्ति एवं राष्ट्रीय चेतना की जागृति में भी पत्र–पत्रिकाएँ को महत्वपूर्ण भूमिका निभाना चाहिए। व्यवसायकिता के बढ़ते हुए अर्थ– लोभ, नाना प्रकार के पड़ते हुए बाहरी दबाव तथा बढ़ते हुए भूमण्डलीकरण, वैश्वीकरण आदि अनेक कारणों ने पत्रकारिता जगत को उसके मूल दायित्वों से भटका रहा है।

पत्रकारिता का दायित्व है कि वह शासन और पूँजीपतियों के हाथ की कठपुतली नहीं बनना चाहिए। उनको सही–सही तथ्यों को प्रकाशित करना चाहिए और विचार प्रकट करते समय पक्षपात नहीं करना चाहिए। अन्ततः कहा जा सकता है कि पत्रकारिता को न्यायधीश की सी निश्छलता और योद्धा की सी निर्भीकता के साथ सच्चाई उजागर करनी चाहिए। जनसाधारण के अधिकारों और उनके हितों के प्रति सदैव सजग होना चाहिए। ये लोकतंत्र के प्रहरी हैं इसलिए आम जनमानस और सत्ता को सतत जगाते रहना चाहिए।

संदर्भ–सूची :–

1. बाबूराव विष्णुराव पराड़कर : शिमला अधिवेशन : हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयागराज, सन् 1931 ई0।
2. वही।
3. वही।
4. हिन्दी दैनिक– प्रभात खबर : एम0वेंकैया नायडु, 10 अगस्त 2019, नई दिल्ली।
5. वही।
6. बाबूराव विष्णुराव पराड़कर : शिमला अधिवेशन : हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयागराज, सन् 1931 ई0।

भौतिकवाद, अध्यात्मवाद और यथार्थवाद की त्रिपथगा : 'दौड़'

डॉ. नीलम देवी*

''साईं इतना दीजिए जामे कुटुम समाय
मैं भी भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाए।।''

कबीरदास जी की यह पंक्ति भले ही लोगों के सम्मुख एक आदर्श प्रस्तुत करती रही हो, किन्तु आज भूमण्डलीकरण की बाजारवादी व्यवस्था और उपभोक्तावादी संस्कृति युवा वर्गों के मन–मस्तिष्क पर इस कदर हावी हो गया है कि वैश्वीकरण और आर्थिक उदारीकरण के सिमसिम के पीछे इसकी संवेदनाओं को ग्रहण लग गया है। पूँजीवाद बाजारवाद से जन्मा अमानवतावाद अब भूमण्डलीकरण का मुखौटा ओढ़े विश्वभर के मानवीय मूल्यों को नष्ट कर उसे यांत्रिक और उपभोक्तावादी वस्तु बना रहा है। इसीलिए तो युवावर्ग रिश्तों से ज्यादा वस्तुओं को महत्व देने लगा है। पारितोष कुमार 'पीयूष' इस बढ़ती हुई बाजारवादी व्यवस्था पर लोगों को सचेत करते हुए लिखते हैं– ''तुम पर हावी होता यह बाजारवाद/बहलाकर तुम्हें प्रलोभनों में/तुम्हारा ही सौदा कर रहा/तुम्हारे हाथों।''

वर्तमान परिदृश्य में व्यक्ति अपने 'स्व' के आगे नैतिक और मानवीय मूल्य खोता जा रहा है। उस पर बाजारतंत्र इस कदर हावी हो गया है कि वे अपने संस्कार और परंपरा से इतर स्वयं केन्द्रित हो रहे हैं। जिससे उनकी सोच इस उपभोक्तावाद की चकाचौंध में कहीं गुम से हो गए हैं। इस भौतिकवादी, उपभोक्तावादी जीवनदृष्टि का प्रभाव हमारे समाज, परिवार पर क्या असर डाल रहा है, यह विचारणीय है। आज युवावर्ग जल्द से जल्द अच्छी नौकरी, गाड़ी, बंगला आदि सभी भौतिक सुविधाएँ पा लेना चाहता है, जिस कारण उसका जीवनचक्र पूर्णरूपेण यांत्रिक हो गया है। आधुनिकता का यही नव भावबोध हमारे युवाओं को अपंग बना रहा है। भावात्मक सम्बन्ध खत्म होते जा रहे हैं। आज का युवावर्ग हर रिश्तों को पैसे से तौलना चाहता है, जैसे वह घर परिवार का सदस्य न होकर कोई वस्तु हो। इक्कीसवीं सदी का यही आर्थिक उदारीकरण और बाजारवाद के जीवनगत परिणामों का यथार्थ अंकन ममता कालिया ने अपने लघु उपन्यास 'दौड़' में किया है। जो हिंदी साहित्य में नया प्रतिमान गढ़ा है।

दौड़ उपन्यास में भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों को मानने वाले और साहित्यिक परिवेश से जुड़े इलाहाबाद निवासी राकेश और रेखा 21वीं सदी के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने की कोशिश करते हैं। यह कोशिश जहाँ एक ओर अपने सांस्कृतिक मूल्यों का परिचायक है, वहीं दूसरी ओर भूमण्डलीकरण के इस दौर में तेजी से हो रहे परिवर्तन को भी दर्शाता है। वह अपने बेटे पवन और सघन को समकालीन परिदृश्य को देखते हुए एम.बी.ए. और साफ्टवेयर इंजीनियर का कोर्स कराते हैं। बेटे जिस बाजारीकरण, आर्थिक उदारीकरण, भूमंडलीकरण के बीच शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं उनमें भारतीय मूल्य कहाँ पनपेगा, इसीलिए तो वह हर चीज को नई दृष्टिकोण से देखते हैं। जब माँ पवन के जन्मदिन पर मंदिर जाकर मत्था टेकती है और अपने विद्यालय में परंपरानुसार प्रसाद बाँटती है। शाम को घर आकर पवन को फोन करती है तब पवन माँ से ग्रीटिंगकार्ड की अपेक्षा करते हुए माँ से कहता है– ''माँ मेरा जन्मदिन इस बार यों ही निकल गया। आपने फोन तो किया पर ग्रीटिंग कार्ड नहीं भेजा।''[1] यहाँ पवन पर किस तरह आधुनिकता हावी हो गई है यह साफ झलकता है। भारतीय सामाजिक संस्कृति में पाणिग्रहण संस्कार की कितनी महत्ता है, जहाँ लोग अपने–अपने रीति–रिवाजों और परंपराओं के अनुसार बड़ी ही धूमधाम से सारी रस्मों को निभाते हैं। इसीलिए पवन की माँ भी चाहती है कि वह भारतीय परंपरानुसार कुलीन वर्ग की लड़की को बहू बनाए, इसीलिए वह बेटे को बार–बार शादी के लिए कहती भी है। आधुनिक परिवेश में रह रहा पवन शादी को भी समझौता मानता है। वह माँ के कहने पर अपने लिए लड़की पसंद करके माँ को संदेश भेज देता है। बेटे का संदेश पाकर रेखा तुरंत राजकोट के लिए निकल जाती है, जहाँ उन्हें स्टैला लड़की की बजाए मैनेजर ज्यादा लगती है। इसलिए

***सहायक अध्यापिका, श्री पुरुषोत्तम इंटर कालेज, खजुहा–फतेहपुर।**

माँ पवन से इस बारे में बात करती है। लेकिन पवन माँ की बात न सुनकर स्टैला की ही तरफदारी करता है, उन्हें उसकी खूबियाँ बताता है। जिससे माँ तिलमिला जाती है। वह सोचती है ''बेटियाँ पराई हो जाती हैं यह तो उसने देखा था पर बेटे पराए हो जाएँ, वह भी शादी के पहले।''[2] भूमण्डलीकरण वस्तुतः एक उपनिवेशवाद है, जो रोजगार संस्कृति भाषा, आचार–विचार सभी पर अपना प्रभुत्व कायम कर पूरे मानवीय स्वरूप को बाजारतंत्र बनाने पर तुला है जिसे पवन की माँ रेखा और पिता राकेश समझ चुके हैं। इसीलिए तो जब बेटा खरमास में सामूहिक विवाह करना चाहता है तो रेखा और राकेश अपने सभी संस्कारों की तिलांजलि देते हुए मूक सहमति दे देते हैं। भूमंडलीकरण के इस दौर में पवन जैसे तमाम युवा वर्ग किस तरह अपने संस्कारों को पीछे छोड़ बाजारतंत्र के अंग बनते जा रहे हैं, यह सोचनीय है? जिस पर ध्यान देने की आवश्यकता है। ममता कालिया ने राकेश, रेखा और पवन, स्टैला के माध्यम से दो पीढ़ियों के अंतर को यहाँ पर दर्शाया है।

भूमंडलीकरण और उपभोक्तावादी संस्कृति में युवा वर्ग इस कदर अंधा हो चला है कि क्या नैतिक है क्या अनैतिक। उसके लिए न किसी चीज का मूल्य है न अस्तित्व। उनके लिए हर चीज व्यवसाय हो चला है। जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण पवन के छुट्टियों के बाद वापस जाने पर अपनी माँ को 20,000 रु. का चेक काटकर देने से ज्ञात होता है। यहाँ पर पवन का उद्देश्य गलत नहीं होता न ही वह अपने माँ–बाप को दुःख पहुँचाना चाहता है। लेकिन जिस आधुनिकता, भौतिकतावादी संस्कृति की ओर हम बढ़ रहे हैं यह उसी का परिणाम है। इसमें कहीं–न–कहीं हम सभी जिम्मेदार हैं। हम भी बाजारवाद की चकौचौंध में यह भूल जाते हैं कि जिस जीवन शैली में आज की युवा पीढ़ी जी रही है। उसमें परंपरा और संस्कृति के नैतिक मूल्य कहाँ रहेंगे। राकेश और रेखा भौतिकतावादी जीवन शैली अपनाना तो चाहते हैं लेकिन परंपराओं, संस्कारों में बँधकर। इसीलिए एक ओर जहाँ वह शादी के बाद अपने बहू स्टैला को स्त्रियोचित गुण पैदा करने की सलाह देती है वहीं दूसरी ओर बेटे को बहू के साथ रहने की, जो हमारे भारतीय परंपराओं की नींव है। परंतु पवन और स्टैला दोनों इस तर्क को स्वीकार नहीं करते। पवन अपने पापा से कहता है– ''पापा जुमले बाजी में आपका जवाब नहीं। हमारी शादी में कोई भारी–भरकम वचनों की अदला–बदली नहीं हुई है।''[3]

पुरातन काल से ही हमारे जीवन मूल्य धर्म और अध्यात्म से ओत–प्रोत रहे हैं। रामचरितमानस, भगवतगीता, वेद, पुराण, भारतीय जनमानस के कंठहार रहे हैं। किन्तु वर्तमान दौर में प्राचीन सामाजिक मान्यताएँ टूट चुकी हैं। धर्म, अध्यात्म, आदर्श आज के संदर्भ में अपनी अर्थवत्ता खोते जा रहे हैं। प्रतिस्पर्धा की इस अंधी दौड़ में आज का युवा वर्ग इस जीवन–मूल्यों को ज्यादा नहीं मानता। उनके पास धर्म अध्यात्म के लिए समय नहीं, वह दो–चार दिन के शिविर में ही शांति खोज लेते हैं। पवन भी इसी यथार्थवादी समाज का अंग बन चुका है। वह अपनी माँ से स्टैला के माँ–बाप की तुलना करते हुए कहता है कि, ''आप में जीवन–दर्शन की कमी है। स्टैला के माँ–बाप को देखो। अपनी लड़की पर विश्वास करते हैं। उन्हें पता है जो भी करेगी, सोच–समझकर करेगी। मद्रास से तीस–पैंतीस मील दूर एक जगह है माँ। मैं तो कहता हूँ आप वहाँ जाकर दस दिन रहो। आप की बेचैनी, परेशानी, बेवजह चिढ़ने की आदत, सब ठीक हो जाएगी।''[4] बाजारवाद के कुचक्र के कारण ही आज उपभोक्तावादी संस्कृति मानवीय जीवन पर किस तरह असर डाल रही है, आज किस तरह युवा वर्ग इस भागती हुई दुनिया का अंग बनता जा रहा है। संवेदनाएँ शून्य होती जा रही हैं, भावात्मक जुड़ाव कम होता जा रहा है। इसका यथार्थ चित्रण ममता कालिया ने बखूबी किया है। जिस कम्पनी ने पवन को नाम, शोहरत, रुतबा, पैसा सब कुछ दिया, वही कंपनी जब डूबने की कगार पर होती है तब पवन कम्पनी को बचाने की बजाय दूसरी कम्पनी ज्वाइन कर लेता है। वह इसी को तरक्की समझता है। पिता द्वारा समझाए जाने पर कहता है– ''छोड़ कहाँ रहा हूँ पापा, यह कम्पनी अब मेरे लायक नहीं रही। मेरी प्रतिभा का इस्तेमाल अब 'मैल' करेगी। मंजिलों के लिए संघर्ष तो करना ही पड़ेगा। मेरी लाइन में चलते रहना ही तरक्की है। अगर यहीं पड़ा रह गया तो लोग कहेंगे, देखा कैसा लद्दड़ है, कम्पनी डूब रही है और यह कैसा बियांका की तरह उसमें फँसा हुआ है।''[5]

इक्कीसवीं सदी में पवन जैसे तमाम युवा जो इस भौतिकतावादी संस्कृति के अंग बन चुके हैं। उनके माँ–बाप एकाकी जीवन जीने को अभिशप्त हैं। उनका जीवन उदासी और पराजयबोध से भरा हुआ है। वे भले ही

एक कामयाब माँ–बाप की संतान हों परंतु उनके चेहरे पर भय और आशंका के बादल छाये रहते हैं। यही हाल राकेश रेखा और उनकी कालोनियों में रहने वाले सभी लोगों की है। चाहे वह सिन्हा साहब हों या मजीठिया या अन्य। सभी के संवाद का एक मात्र वह यंत्र ही है जो बूढ़े हो चले माँ–बाप का सहारा हैं। उपभोक्तावाद अपने संचार तंत्र के सहारे मनुष्य को मानसिक गुलाम बनाकर पूरे समाज को एक मण्डी के रूप में तब्दील कर देता है। जिसके फलस्वरूप अनेक बहुराष्ट्रीय कंपनियों का पर्दापण हुआ। जो अपने मुनाफे के लिए, अपने व्यापार को बढ़ाने के लिए नए–नए हथकण्डे अपनाने में भी गुरेज नहीं करती। वह अपने उत्पादों को बेचने के लिए मीडिया तंत्र के द्वारा आकर्षक और लुभावने विज्ञापन दिखाकर सामान्य जन–मानस का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती हैं। इसी उपभोक्तावादी संस्कृति और विज्ञापन की दुनिया का सरताज है अभिषेक। जो दूसरी टूथपेस्ट कंपनियों की प्रतिस्पर्धा में अपनी कंपनी को नई ऊँचाई तक ले जाने के लिए नई–नई मॉडल तलाश कर (भले ही इस कार्य में उसका वैवाहिक जीवन प्रभावित होता है) ऐसा विज्ञापन पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता है जो किसी जादुई जिन्न से कम नहीं है। जनता इसी लुभावने विज्ञापन को सच मानती है। इसी के चलते मीडिया तंत्र वैश्विक स्तर पर हो रहे मूल्यों के अवमूल्यन का भी साक्षात्कार कराता है। अभिषेक विज्ञापन की दुनिया को खर्च और बिक्री की दुनिया मानता है। वह कहता है– ''हम सपनों के सौदागर हैं, जिसे चाहिए बाजार जाए, सपनों और उम्मीदों से भरी ट्यूब खरीद लें। ये विज्ञापन का ही कमाल है कि हमारे तीन सदस्यों वाले परिवार में तीन तरह के टूथपेस्ट आते हैं।''[6] अभिषेक इस विज्ञापन की दुनिया में मस्त है किन्तु पत्नी राजुल को ये सारे विज्ञापन नैतिकता से परे लगते हैं। वह अभिषेक से कॉपी राइटर की नैतिकता पर सवाल पूछती है तब अभिषेक कहता है ''मैंने आई.आई.एम. में दो साल भाड़ नहीं झोंका है। वहीं से मार्केटिंग सीख कर निकला हूँ। आई कैन सैल ए डैड रैट (मैं मरा चूहा भी बेच सकता हूँ) यह सच्चाई, नैतिकता सब मैं दर्जा चार तक मोरल साइंस में पढ़कर भूल चुका हूँ।''[7] यही नहीं अभिषेक का दोस्त और बहुराष्ट्रीय कम्पनी में कार्यरत पवन भी नैतिक, अनैतिक बातों का कोई मूल्य नहीं समझता। वह अभिषेक की पत्नी राजुल ने कहा है– ''दरअसल बाजार के अर्थशास्त्र में नैतिकता जैसा शब्द लाकर, राजुल तुम सिर्फ कन्फ्यूजन फैला रही हो। मैंने अब तक 500 किताबें तो मैनेजमेंट और मार्केटिंग पर पढ़ी होंगी। उसमें नैतिकता पर कोई चैप्टर नहीं है।''[8]

समग्र रूप से हम देखें तो ममता कालिया के 'दौड़' उपन्यास का नायक पवन इक्कीसवीं सदी के युवाओं का प्रतिनिधित्व कर रहा है। वह एम.बी.ए. करके पुरानी परंपराओं पर न चल कर अपने व्यक्तिगत जीवन मूल्यों पर बल देता है। चाहे वह शादी के लिए खुद लड़की पसंद करना हो या चैन्नई की 'मैल' कम्पनी ज्वाइन करके अपने कैरियर को महत्व देना हो। पवन का भाई सघन भी ताइवान जैसे देश में सॉफ्टवेयर इंजीनियरिंग के पद को सुशोभित करता है और वहाँ के पॉलीटिक्स में भी रुचि लेता है। उसके लिए भी माँ–बाप की इच्छा मायने नहीं रखती। यहाँ पर सिर्फ राकेश और रेखा की कहानी को ही नहीं दर्शाया गया है बल्कि सारे समाज की कथा को इस लघु उपन्यास के माध्यम से दर्शाया गया है। वर्तमान परिदृश्य में माँ–बाप बच्चों को उच्च शिक्षा दिलाने में तो सफल हो गए परंतु उनके अंदर संस्कार मूल्य डालने में सफल नहीं हो पाए। अतः हम कह सकते हैं कि सच, आज इस अंतहीन दौड़ में मूल्यों, आदर्शों को रौंदती हुई आज की युवा पीढ़ी भौतिकतावादी जीवन में दिग्भ्रमित हो रही है।

संदर्भ–सूची :–

1. कालिया ममता, दौड़, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 43
2. वही, पृ. 58
3. वही, पृ. 64
4. वही, पृ. 67–68
5. वही, पृ. 65
6. वही, पृ 38
7. वही, पृ. 37
8. वही, पृ. 39

<<★>>

निर्मल वर्मा के कथा साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव

रिंकी यादव*

साठोत्तरी कथा साहित्य में निर्मल वर्मा का व्यक्तित्व बहुमुखी प्रतिभा से ओत–प्रोत हैं। डॉ0 लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, ''निर्मल की गणना उन भारतीय लेखकों में करते हैं जो अपनी प्रेरणा के स्त्रोत विदेशों में खोजते हैं, भारतीय जीवन–पद्धति जिनके लिए नगण्य एवं उपेक्षणीय है, तथा जिन्हें अपने को भारतीय कहने में भी संकोच होता है, क्योंकि वे लोग प्रागवासियों की तरह आधुनिक नहीं है।''[1] निर्मल जी इसका उत्तर देते हुए स्वयं लिखते हैं कि ''वर्षों विदेश में रहने के कारण मेरी कुछ कहानियों में शायद एक वीराने किस्म का 'प्रवासीपन' चला आया है–मुझे नहीं मालूम यह इन कहानियों को अच्छा बनाता है या बुरा। कुछ भी हो, इन्हें विदेशी कहानियाँ कहना शायद ठीक न होगा। यों भी मुझे कहानियों, कविताओं को भोगौलिक खण्डों में विभाजित करना अरूचिकार और बहुत हद तक अर्थहीन लगता रहा है। ग्राह्म गीन जिन्दगी भर इंग्लैण्ड के बाहर अपने उपन्यासों के कथानक ढूंढते रहे– लेकिन शुरू से आखिर तक ठेठ अंग्रेजी लेखक। क्या लारेन्स की कहानियों– उपन्यासों को देशी–विदेशी कटघरों में बांधना हास्यास्पद नहीं होगा? –दरअसल किसी लेखक की पृष्ठभूमि विदेशी है या देशी– यह चीज बहुत ही गौण है– उसका महत्त्व है तो सिर्फ इसमें कि किस सीमा तक और कितनी गहराई से वह किसी श्वास स्थिति या नियति को खोल पाती है।''[2] निर्मल वर्मा के पाँच उपन्यासों में से एक स्पष्ट रूप में पाश्चात पृष्ठभूमि से प्रभावित है– 'वे दिन'। इसमें देशी–विदेशी, मुख्य–गौण सभी पात्र पाश्चात्य प्रभावों से प्रभावित है। तथा इनके 29 कहानियों में से 13 कहनियाँ स्पष्ट रूप में पाश्चात्य पृष्ठभूमि से प्रभावित है– 'एक शुरूआत', 'पराये शहर में', 'जलती झाड़ी', 'लंदन की एक रात', 'अन्तर', 'पिता और प्रेमी, 'डेढ़ इंच ऊपर', 'उनके कमरे', 'इतनी बड़ी आकांक्षा', 'छुट्टियों के बाद', 'वीकएण्ड', 'दो घर', 'खोज'।

इन कहानियों में देशी–विदेशी, मुख्य–गौण सभी पात्र पाश्चात्य प्रभावों से प्रभावित दिखाई देते है। निर्मल जी के कथा साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव का अध्ययन दो शीर्षक के अन्तर्गत कर सकते हैं–

क. कथानक में पाश्चात्य प्रभाव ख. भाषा में पाश्चात्य प्रभाव

(क) कथानक में पाश्चात्य प्रभाव –निर्मल जी का कथा साहित्य रूमानियत से परिपूर्ण है फिर भी उनकी रूमानियत परम्परित पाश्चात्य से प्रभावित रूमानियत से अलग है। उन्होंने पाश्चात्य सौन्दर्य को मान्यता नहीं दी, किन्तु भारतीय सौन्दर्य को प्रकट करने का नया रास्ता खोला है। दिनेश श्रीनेत कहते है, ''निर्मल को पढ़ना ... और अपने अकेलेपन में निर्मल को पढ़ना दो बिल्कुल अलहदा चीजें है।''[3] जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रेम, मोह, लगाव, अलगाव, अकेलापन, अजनबीपन, बौद्धिकता, संघर्ष आदि स्थितियाँ उनके साहित्य पर पड़े पाश्चात्य प्रभाव की द्योतक हैं। उन्होंने पश्चिमी संगीत का पियानो संगीत का सजीव चित्रण किया है– ''लीड काइंडली लाइट... पियानो के सुर दबे, झिझकते से मिलने लगे।... ंगीत के सुर मानो एक ऊँची पहाड़ी पर चढ़कर हाँफती हुई साँसों को आकाश की अबाध शून्यता में बिखरते हुए नीचे उतर रहे है।''[4] पाश्चात्य वातावरण से सम्बन्धित शराब, सिगरेट तथा अन्य प्रभाव भी अनेक रूपों में निर्मल के कथा साहित्य में मिलते है। बियर, रम, चियान्ती, ग्राक, लागर, कोन्याक, बोडका, विस्की, लिकर, सफेद शराब, जिन, रेड वाइन आदि अनेक नाम इन्होंने लिखे हैं। 'पलंग के नीचे से मैंने बियर की बोतल निकाली।... मैंने बियर का एक लम्बा घूँट लिया और बाहर देखने लगा...आज रात मैं वोडका की एक बोतल खरीद सकूँगा...।[5] 'इतनी बड़ी आकांक्षा', 'डेढ़ इंच ऊपर', लवर्स, बीच बहस में, अंतर, अंधेरे में आदि शराब घरों पर लिखी गई हैं सभी पात्र सर्वत्र शराब पीते हैं। 'खोज' कहानी की दोनों बहने विस्की पीती है। 'इतनी बड़ी अकांक्षा' कहानी में पत्नी बोडका पीती है। 'अंतर' कहानी की मुख्य पात्र नायिका

***शोधार्थी– हिंदी विभाग, जवाहरलाल नेहरू मेमोरियल स्नाकोत्तर महाविद्यालय, बाराबंकी।**

बियर में रूचि रखती है। 'अमालिया' की पात्र अमालिया बेहोशी की अवस्था तक पीती है। 'वीकएण्ड' की लड़कियाँ बियर पीती हैं– 'उनकी आँखों से बचने के लिए उसने बियर मँगवाई।... उसने पहला घूँट लिया ओर तब उसे स्क्वायर पर बढ़ती उसकी छाया दिखाई दी।... बियर पीती हुई वह लड़की, उस आदमी को निहारती हुई...।'[6] 'एक शुरूआत'कहानी का कथानक लंदन से प्राग के इर्द–गिर्द घूमता है। पूरी कहानी पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित है –''दो महीने पहले लंदन आया था, अब प्राग जा रहा हूँ।... पिछले छः वर्षों से बेल्जियम मे रहा हूँ।... यह अजीब बात है कि किसी खास किस्म की बियर या शराब या संगीत के संग एक पराए अजनबी शहर की कितनी स्मृतियाँ जुड़ जाती हैं।''[7] निर्मल जी के कथानक में बियर, शराब के अतिरिक्त पात्रों में सिगरेट के प्रति भी एक उत्कृष्ट इच्छा और भूखी लालसा दृष्टिगत होती है। बेरोजगारी, भूखमरी एवं बीमारी की अवस्था में भी वह इस लालसा को दबा नहीं पाते है। 'लन्दन की एक रात' कहानी में पुरूष पात्र जार्ज बेरोजगार है फिर भी अपनी अंतिम सिगरेट साथियों को पेश करता है। कुछ देर बाद तीनों ही उस एक सिगरेट को बारी–बारी पीने लगते है। 'अंतर' कहानी की नायिका 'लीपा' को सिगरेट विशेष पसंद है। वह अस्पताल में सिगरेट पीती है– 'उसने एक लम्बा, गहरा कश लिया। धुआँ बाहर निकलते समय उसके नथुने धीरे–से काँप रहे थे।'[8] निर्मल की कहानियों के अधिकतर पात्र सिगरेट की आदत रखते हैं। 'पिछली गर्मियों में' का निंदी, 'लवर्स' का 'निन्दी', 'कुत्ते की मौत' का नितिन, 'एक शुरूआत' का यूरोपीय तथा भारतीय पात्र, 'डेढ़ इंच ऊपर' की स्त्री, 'अंतर' की नायिका लीपा, 'जलती झाड़ी' की लड़की, 'छुट्टियों के बाद' की बड़ी लड़की मार्था एवं नायक, 'वीकएण्ड' की लड़की आदि ऐसे ही पात्र है। 'वे दिन' उपन्यास के इंदी, फ्राज़, जर्मन महिला रायना रैमान आदि सभी पात्र पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित है। बियर, शराब, सिगरेट के अतिरिक्त बीच बाजार में एक दूसरे से लिपटना–चूमना, हाथ मिलाना, एक ही स्लीपिंग किट में सड़क के किनारे सोना, सभी के सामने कपड़े बदलना, विवाह के बिना गृहस्थी जमाना, विवाह के बाद भी दूसरी स्त्रियों से संबंध रखना आदि निर्मल के कथानक में पाश्चात्य प्रभाव दिखाई देते है।

'छुट्टियों के बाद' कहानी की छोटी लड़की 'मार्था' पेरिस के प्लेटफार्म पर अपने प्रेमी तथा बासेल प्लेटफार्म पर अपने मंगतेर से लिपटती है। मार्था उतरने से पहले बड़ी लड़की के दोनों गालों को चूमती है एवं नायक से हाथ मिलाती है।[9] 'अंतर' की नायिका लीपा नायक के साथ बाहर खुले में एक ही स्लीपिंग किट में सोया करती है। 'पिछली गर्मियों में' का महीप वियना में बिना शादी किए एक लड़की साथ रह रहा है। 'पिता और प्रेमी' कहानी में लड़की की शादी नहीं हुई, किन्तु बच्चा है। 'वे दिन' उपन्यास में कथानायक और जर्मन महिला रायना रैमान के दरम्यान तीन दिन के अल्प समय में एक रिलेशनशिप (सम्बन्ध) बन जाता है। सम्पूर्ण कथानक पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित है।

(ख) भाषा में पाश्चात्य प्रभाव –निर्मल वर्मा ने अपने कथा साहित्य के माध्यम से भाषा की एक नवीन परम्परा कायम की है। उनकी भाषा अपनी पूर्ववर्ती कहानियों की तुलना में एक विशेष नएपन को लिए हुए तथा अनुभूति के अनुरूप हैं। उनकी भाषा अपने नामारूप निर्मल, स्वच्छ, सरल, सहज एवं संवेदनापूर्ण पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित है। राजेन्द्र यादव के अनुसार, ''आज अनुभव के लिए भाषा नहीं तलाशी जाती। अनुभव स्वयं अपने अनुरूप भाषा संस्कार करने लगा है।''[10] निर्मल वर्मा का संबंध नगर, महानगर, देश–विदेश से रहा है इसलिए उनके साहित्य में निःसंकोच अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग किया गया है। उनकी कई कहानियों के शीर्षक ही अंग्रेजी भाषा में प्रयोग किए गए हैं जैसे–पिक्चर पोस्टकार्ड, लवर्स, अमालिया, वीकएण्ड, टर्मिनल इत्यादि। शीर्षक के अतिरिक्त भी उन्होंने कई विदेशी नगरों के नाम अपने साहित्य में प्रयोग किए हैं जैसे– लंदन, प्राग, वेनिस, जर्मन, बर्लिन, न्यूरमबर्ग, ड्रेसडन, बासल, चेक, ऑस्ट्रिया आदि।

निर्मल वर्मा के कथा साहित्य में पात्रों के नाम भी पाश्चात्य से प्रभावित हुए है जैसे–फादर अल्मेड, ह्यूबर्ट, मिस वुड, मोन्टू, लूसी, जेली, जॉर्ज, विली, इटैलियन, अमालिया, मार्था, लीपा, पेरिसियन, मीता, फ्रांज, सेंट

पीटर, मारिया इत्यादि। उन्होंने अपने साहित्य में निःसंकोच अंग्रेजी शब्दों का तथा अंग्रेजी भाषा के वाक्यों का प्रयोग किया है– 'सितम्बर की एक शाम' कहानी में 'वह' कहता है– ''व्हाईडोंट यू विलीव मी, आई लव यू सो मज।''[11] इसी प्रकार 'लंदन की एक रात' कहानी में 'विली' कहता है– 'ओह, हाऊ आई विश फ़ार एनदर वार... एण्ड देन एनदर!... आई डोंट लाइक सिविल वार... देयर इज़ रियल लाइफ़!''[12] मदन सोनी जी लिखते है कि ''निर्मल वर्मा की भाषा को हिन्दी के आलोचक चित्रों और संगीत की भाषा कहकर टालते और खुश होते रहे हैं जबकि उनकी भाषा एक सचमुच जी रहे व्यक्ति की भाषा है, जिसमें अनुभव की उत्कट साझेदारी भी सम्भव है और एक बौद्धिक बहस भी।... भाषा में नव जातक की–सी सहजता और ताज़गी है।... शब्द जादू की कुंजी हैं जिसे निर्मल जी अपनी स्मृति के बन्द कमरे में खोलते हैं।... निर्मल वर्मा की भाषा उपलब्धि के दम्भ की नहीं, खोज और अनुभव की भाषा है। एक बच्चे के लिए उस भाषा का अपना अलग अर्थ है और एक वयस्क के लिए भी। अनुभव को अपनी शारीरिकता में धारण करने वाली इस भाषा में एक बड़ी अन्तः सलिल बौद्धिकता है।''[13]

'वे दिन' उपन्यास का कथानायक इण्टरप्रेटर (दुभाषिए) के रूप में आता है। नायिका रायना रैमान एक जर्मन महिला है। उपन्यास का घटनास्थल चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग है। नायिका रायना रैमान प्राग घूमने के लिए आती है जिसके लिए उसे एक इंटरप्रेटर की आवश्यकता पड़ती है। कथानायक चेक से अंग्रेजी में दुभाषिए का कार्य करता है। तीन दिनों की मुलाकात, साथ उन दोनों में एक रिलेशन उत्पन्न कर देती हैं–''उसने हंसते हुए मेरा कोट पकड़ लिया, ''आई विल डाई! ''पहली बार मुझे लगा जैसे उसकी हंसी में 'अपनापन' है, जो दिनभर नहीं था। कुछ ऐसा, जिसे हम शुरू कहते है...।[14] दूसरे विश्व युद्ध के बाद यूरोप की स्थिति, मनुष्य के जीवन का सजीव चित्रण संपूर्ण उपन्यास में किया गया है– ''जब कभी बाहर टूरिस्ट एजेंसी की नियॉन लाइट जलती...सामने की दीवार पर लगा पोस्टर एक क्षण के लिए जगमगा जाता –''विज़िट प्राग – द सिटी ऑफ़ योर ड्रीम्स!''[15]

अतः हम यह सकते हैं कि निर्मल वर्मा का कथा साहित्य पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित है। उनकी भाषा भी पाश्चात्य से प्रभावित सहजता के साथ–साथ नए अर्थों को लेकर उतरती है। पाश्चात्य लेखकों की भांति वह अपने विचारों को सीधे–सीधे प्रस्तुत नहीं करते अपितु विचारों को प्रकट करने के लिए विभिन्न प्रकार के प्रतीकों, बिंबो का प्रयोग करते हुए प्रस्तुत करते है जिसके कारण उनके साहित्य में सजीवता परिलक्षित होती है।

संदर्भ–सूची :–

1. आधुनिक हिन्दी कहानी का परिपार्श्व, डॉ0 लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ0143
2. मेरी प्रिय कहानियाँ, निर्मल वर्मा, पृ07
3. जातीय स्मृति और निर्मल वर्मा पर संवाद–दिनेश श्रीनेत, फेसबुक लाइव समूह से 24 अक्टूबर 2021
4. परिंदे, निर्मल वर्मा, पृं0119
5. वे दिन, निर्मल वर्मा, पृं012
6. बीच बहस में (वीकएण्ड), निर्मल वर्मा, पृ045
7. जलती झाड़ी (एक शुरूआत), निर्मल वर्मा, पृ050
8. जलती झाड़ी (अंतर), निर्मल वर्मा, पृ0166
9. बीच बहस में, निर्मल वर्मा, पृं023
10. कहानीः स्वरूप और संवेदना–राजेन्द्र यादव, पृं0191
11. परिंदे, निर्मल वर्मा, पृं098
12. जलती झाड़ी, निर्मल वर्मा, पृ0120
13. कथादेशः भाषा की कथा–मदन सोनी, पृ0113
14. वे दिन, निर्मल वर्मा, पृ083
15. वे दिन, निर्मल वर्मा, पृ088

ꩮ★ꩮ

साहित्य की सशक्त विधा : उपन्यास

डॉ. अतुल कुमार यादव*

'उपन्यास' शब्द की व्युत्पत्ति 'उप + न्यास' से हुई है। 'उप' का अर्थ है 'निकट' और 'न्यास' का अर्थ है 'रखी हुई वस्तु'। अर्थात् उपन्यास शब्द का मूल अर्थ है 'निकट रखी हुई वस्तु', किन्तु आधुनिक युग में 'उपन्यास' का प्रयोग साहित्य के एक ऐसे स्वरूप विशेष के लिए होता है, जिसमें एक दीर्घकथा का वर्णन गद्य में किया जाता है। **'भरतमुनि'** ने उपन्यास के लिए **'उपपत्तिकृत्तो ह्यर्थः'** तथा 'प्रसादनम्' आदि प्रस्तुत किये हैं, जिनका अर्थ होता है– **'किसी अर्थ को युक्तिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने वाला तथा प्रसन्नता प्रदान करने वाला कथा साहित्य उपन्यास कहलाता है।'**[1]

आधुनिक काल में 'उपन्यास' शब्द अंग्रेजी के नॉवेल (Novel) के अर्थ में प्रयुक्त होता है जिसका अर्थ है एक दीर्घ कथात्मक गद्य रचना। जिसके अन्तर्गत वास्तविक जीवन के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाले पात्रों और कार्यों का चित्रण किया जाता है। गुजराती में 'नवल कथा' मराठी में 'कादम्बरी' एवं बंगला में 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग भी अंग्रेजी के 'नॉवेल' के अर्थ में ही किया जाता है। सम्भवतः 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग हिन्दी साहित्य में 'बंगला' से ही माना जाता है।[2]

आधुनिक उपन्यास–साहित्य का जन्म यूरोप से स्वीकार किया जाता है। किंतु यूरोप में उपन्यास का उद्भव स्वीकार करने से पहले भारत में जो प्राचीन काल से कथा–साहित्य की परंपरा चली आ रही है उसमें कहीं न कहीं उपन्यास का अस्तित्व विद्यमान है। सर्वप्रथम संस्कृत गद्य में लिखे गये पंचतंत्र, हितोपदेश, वैताल पंचविंशति, वृहत्कथा–मंजरी, स्वप्न वासवदत्त, कादम्बरी और दशकुमार चरितम् में हमें क्रमशः औपन्यासिकता का विकास मिलता है। बहुत से विद्वानों ने 'कादम्बरी' को भारत का पहला उपन्यास माना है, किंतु औपन्यासिक तत्वों के आधार पर विश्लेषण करने पर इसमें औपन्यासिक तत्वों का अभाव मिलता है। 'कादम्बरी' में अलौकिकता, भावात्मकता एवं अलंकारिकता का आग्रह इतना अधिक है कि उसे उपन्यास की 'श्रेणी' में नहीं रखा जा सकता। वस्तुतः मानवीय चरित्र के स्वाभाविक चित्रण, मनोवैज्ञानिक तथ्यों के उद्घाटन, यथार्थवादी दृष्टिकोण एवं शैली की स्वाभाविकता के आधार पर **'दशकुमार–चरितम्'** को हम भारत का पहला **'उपन्यास'** स्वीकार कर सकते हैं।

उपन्यास का उद्भव यूरोप में रोमांटिक कथा साहित्य से हुआ जो मूलतः भारतीय प्रेमाख्यानों से प्रेरित था। रोमांटिक का अर्थ है, जिसमें प्रेम और साहस का निरूपण हो। संस्कृत के **'स्वप्न वासवदत्ता', 'कादम्बरी'** और **'दशकुमार चरित'** में प्रेम, साहस और धैर्य का ही चित्रण किया गया है। इस युग के भारतीय कथा–साहित्य में इन तत्वों की इतनी प्रधानता थी कि **आचार्य रूद्रट** ने कथा–साहित्य के लक्षण निर्धारित करते समय प्रेम और साहस को उसका आवश्यक लक्षण माना। यूरोप में रोमांटिक उपन्यासों का प्रचार सर्वप्रथम **'इटली'** से माना जाता है। 14 वीं शताब्दी के मध्य में इटली के लेखक **'बोकेशियो'** ने 'डी केमरान' की रचना की जो व्यंग और विनोद से ओत–प्रोत थी। 17 वीं शती में स्पेन के लेखक **'सरवन्ते'** ने **'डान क्विकजोट'** की रचना की। आगे चलकर फ्रॉंस में रोमानी और यथार्थवादी कथा–साहित्य की बहुत उन्नति हुई। दूसरी ओर 17 वीं–18 वीं शती में इंग्लैण्ड में अनेक महत्वपूर्ण उपन्यासों की रचना हुई, जैसे– **सरफिलिप सिडनी** कृत **'आर्केडिया'** (1850), जॉन बुनियन का **'पिलग्रिम्स प्रोगेस'** (1684), डैनियल दैफो का **'राबिन्सन क्रूसो'** (1719), जोनाथ स्विफ्ट का **'गुलीवर्स**

*** सहायक आचार्य हिन्दी विभाग श्री कृष्ण गीता राष्ट्रीय पी0जी0 कालेज, लालगंज–आजमगढ़।**

ट्रेवल्स' (1726) आदि। आगे चलकर इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी व रूस में अनेक उच्च कोटि के उपन्यासों की रचनाएँ हुई, जिनमें **सेम्युअल रिचड्र्सन** का **'पामेला'** (1740) **हैनरी फील्डिंग** का **'टाम जोन्स'** (1749), **आलिवर गोल्स स्मिथ** का 'विकार ऑफ बेकफील्ड', **जेन आस्टिन** का 'प्राइड एण्ड प्रेजुडिस', सर वाल्टर स्कॉट का 'बेबर्ली नावेल्स', चार्ल्स डिकेन्स का 'डेविड कॉपरफील्ड', **ब्रॉण्टी** का 'जेक आयर', **थैकरे** का 'वेनिटी फेयर', **जार्ज इलियट** का 'एडम बीड' आदि इग्लैण्ड में प्रकाशित हुए। फ्राँस के उपन्यास–लेखकों में **वाल्टेयर, विक्टर ह्यूगो, बालजक, जार्ज सेण्ड, जोला, फ्लावेयर, अनातोले फ्राँस** आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त जर्मनी में **गेटे** तथा रूस में **पुश्किन, गोगोल, लर्मातोफ तुर्गनेव, दास्ताएव्स्की, टालस्टॉय** जैसे महान् लेखकों ने उपन्यास विधा को समृद्ध किया।[3]

उपन्यास का उदय एक नई सभ्यता की तरह हुआ। यह सभ्यता अचानक से ही प्रस्फुटित नहीं हुई बल्कि यह सदियों की सामूहिक और समुचित चेतना अजस्र धारा के रूप में प्रवाहमान रही है। समय के परिवर्तन के साथ इसके स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ। इंसानी कल्पना और अनुभव करने की किसी उत्कंठ आकांक्षा का सीधा प्रतिफलन उपन्यास बना। जिस स्वतन्त्र भाव से सराबोर होकर उपन्यास की कलात्मक व्यापकता का स्वप्नबोध पैदा हुआ, वह मानवतावादी आंदोलन और पुनर्जागरण का अत्यन्त स्वाभाविक परिणाम था। औद्योगिक क्रांति, फ्रांस की क्रांति, विज्ञान का चमत्कारिक घोषणाएँ इसी व्यक्ति स्वतन्त्रता और साहस का परिणाम थे जिन्हें घटित होने में इसके बाद लगभग एक सदी की प्रतीक्षा करनी पड़ी। यह प्रतीक्षा भी कोई रिक्त समयांश नहीं था। उपन्यास विधा ने तब से आज तक इंसान के भीतरी और बाहरी दुनिया को इस तरह उजागर किया है जैसे हर सांस शब्दों में दर्ज हो गई हो। हर वासना अपने पूरे उत्सव और व्यापार के साथ उपन्यासों की रेखाओं में उतर गई हो। प्रेम, ईर्ष्या, जन्म, मृत्यु, उत्सर्ग, आदर्श, बन्धन, साहस, बलिदान इतने अलग–अलग तरह सब कुछ प्रकट हुआ कि आज किसी भी चीज को परिभाषित करना केवल औपन्यासिक प्रयत्न के अतिरिक्त कुछ नहीं रह गया लगता। जीने की इतनी दिशाएँ खोली हैं उपन्यास विधा ने कि प्रश्न चिन्ह कोई नहीं।[4]

सुप्रसिद्ध उपन्यासकार और समीक्षक **ई.एम. फॉरस्टर** ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आस्पेक्ट्स ऑफ उपन्यास' में लिखा है, ''मित्र! हाँ उपन्यास कहानी बयान करता है'' कहानी कहने के लिए उपन्यासकार अपनी विलक्षण भाषा–शैली के माध्यम से उपन्यास के कथानक, वातावरण और विभिन्न चरित्रों का निर्माण करता है और साथ ही अपने जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति भी करता है। वस्तुतः उपन्यासकार अपने उपन्यास में एक पूरे संसार की रचना करता है जिसके प्रभाव से पाठक भी उसी संसार का भाग बन जाते हैं। प्रत्येक उपन्यास अपने आप में अद्भुत होता है, क्योंकि प्रत्येक उपन्यास में वर्णित संसार भिन्न होता है। विख्यात उपन्यासकार और विचारक डी.एच.लारेंस ने कहा था ''उपन्यास जीवन का महान ग्रन्थ है।''[5]

अर्नेस्ट ए. बेकर ने उपन्यास को परिभाषित करते हुये कहा कि ''उपन्यास गद्यबद्ध कथानक के माध्यम द्वारा जीवन तथा समाज की व्याख्या का सर्वोत्तत साधन है।''

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि में उपन्यास ''मानव–जीवन के अनेक रूपों का परिचय कराना है। यह उन सूक्ष्म घटनाओं को प्रत्यक्ष करने का कार्य करता है, यत्न करता है। जिनसे मनुष्य का जीवन बनता है और जो इतिहास आदि की पहुँच के बाहर हैं।''[6]

डी.एच.लारेंस ने उपन्यास तथा उपन्यासकार दोनों को महत्त्वपूर्ण माना है उन्हीं के शब्दों में 'उपन्यास जीवन की एक उज्ज्वल पुस्तक है। पुस्तकें जीवन नहीं हैं, वे सिर्फ हवा में थरथराहट पैदा करती है, लेकिन उपन्यास एक ऐसी थरथराहट है जो समूचे जीवित मनुष्य को कँपा सकती है। कविता, दर्शन, विज्ञान या किसी भी पुस्तक की थरथराहट से कहीं ज्यादा जबरदस्त उपन्यासकार की थरथराहट है।''[7]

युगोस्लावियाई उपन्यासकार **इवो आन्द्रिच,** जिन्हें उपन्यास ('द ब्रिज ऑन द ड्रीन') पर नोबेल पुरस्कार मिला था, अपनी डायरी में इन्होंने उपन्यास को लेकर मंतव्य दिए ''यानी मनुष्य एक अजनबी है, अजनबी का जो भी सच्चे से सच्चा, गहरे से गहरा अर्थ होता है, उस अर्थ में। हर चीज जो यहाँ हुई है और उसके लिए हुई थी अब उसके हाथ से हमेशा–हमेशा के लिए टूट चुकी है और इतना तय है कि अब आगे ऐसा कुछ भी घटित नहीं हो सकता जो उसका साथ दे सके– जिसे उससे छीना जा सके। लोग..............उनकी कृतियाँ............उनके शब्द सब उन सायों की तरह है जो सूरज के सिर पर आते ही गायब हो जाते हैं। आज से पहले मैने कभी इस तरह महसूस नहीं किया, और जैसा कि कभी मेरे साथ होता था ऐसे क्षणों में, मुझमें एकाएक एक अपूर्व सम्पन्नता का अहसास जाग उठता है.........विशुद्ध आनंद की अनुभूति जिसका उत्स मेरे उस विचार से होता है। विचार जो मोमदीप की तैरती बत्ती की तरह मेरे अंदर चलता है।''[8]

मुंशी प्रेमचन्द के शब्दों में– ''मैं उपन्यास को मानव–चरित्र का चित्र समझता हूँ। मानव चित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है। सब आदमियों के चरित्रों में भी बहुत कुछ समानता होते हुए भी कुछ विभिन्नताएँ होती हैं। यही चरित्र संबंधी समानता और विभिन्नता अभिन्नत्व में भिन्नत्व और विभिन्नत्व में अभिन्नत्व–दिखाना उपन्यास का मूल कर्त्तव्य है।''

इस प्रकार उपन्यास विधा का स्वरूप विराट होता है। उपन्यास में साहित्य की सारी विधाओं की छवियों का सन्निवेश होता है। उपन्यास में कथा के साथ–ही–साथ काव्य की–सी भावुकता और संवेदना, निबन्ध की–सी चिन्तन मूलकता, नाटक की–सी संवाद योजना होती है और चरित्र अधिकांश रूप से अपना या औरों का विश्लेषण अपने कार्य–व्यापारों तथा पारस्परिक संवादों या स्वगत चिंतनों से करते रहते हैं। इसमें नाटक के रंगमंच–विधान की तरह परिवेश–विधान यानी देशकाल विधान होता है। इसीलिए आलोचकों ने उपन्यास को 'जेबी थिएटर' भी कहा है। नाटक, काव्य, कहानी या निबन्ध की तरह उपन्यास के विस्तार की कोई सीमा नहीं निर्धारित की गई है। वह जितना चाहे विस्तार ले सकता है और संगठित रूप से जीवन की जितनी भी व्यापकता चाहे समेट सकता है। अतः उपन्यास अपनी इसी विराटता के कारण आधुनिक काल की एक बहुत ही शक्तिशाली और लोकप्रिय विधा है।

संदर्भ–सूची :–

1. गणपति चन्द्र गुप्त–साहित्यिक निबन्ध, पृ.सं. 414
2. वही, पृ.सं. 414
3. गणपति चन्द्र गुप्त–साहित्यिक निबन्ध, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद, पृ.सं. 417–418
4. सं. कृष्ण किशोर, अन्यथा पत्रिका, अंक 15, पृ.सं.
5. पृ.सं. 211
6. ज्योतिष जोशी, उपन्यास की समकालीनता, पृ.सं. 18
7. ज्योतिष जोशी : उपन्यास की समकालीनता, पृ.सं. 22
8. वही, पृ.सं. 23

मन्नू भंडारी की कहानियों का वैचारिक परिप्रेक्ष्य

डॉ. रंजन एम. परमार*

साठ्ठोत्तरीकाल की महिला लेखिकाओ में मन्नू भंडारी का नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। उनके साहित्य में आधुनिक युग के बदलते हुए सामाजिक मूल्य, सम्बन्धों में बिखराव, कुन्ठा और तनावयुक्त जीवन की एक गूँज सुनाई देती है। उनकी कहानियाँ मानवीय संवेदना से जुडी कहानियाँ है। मन्नूजी ने अपनी कहानियों में नारी की त्रासद स्थितियों को जितनी कुशलता से अभिव्यक्त किया है, वैसी कुशलता कम ही देखी गयी है। उन्होंने... "व्यर्थ के भावोच्छवास में नारी के आँचल का दूध और आँखो का पानी दिखाकर उसने पाठको की दया नहीं वसूली... वह एकदम यथार्थ के धरातल पर नारी का नारी की द्रष्टि से अंकन करती हैं...।"[1] परंपरागत रूढियों और संस्कारो के बीच अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करती नारी की मनोव्यथा को एक स्त्री होने के नाते मन्नूजी ने गहराई से महसूस किया हैं। 'मेरी प्रिय कहानियाँ' और 'श्रेष्ठ कहानियाँ' उनके कहानी संग्रह है। जीवन के प्रिय क्षण से उपजी कहानियाँ ही उनकी प्रिय कहानियाँ है। और श्रेष्ठ कहानियाँ चुनी हुई श्रेष्ठ कहानियाँ का संग्रह हैं। 'मैं हार गई' उनका प्रथम कहानी संग्रह हैं। जो सन् 1957 में प्रकाशित हुआ। 'मैं हार गई' उनकी महत्वपूर्ण कहानी है क्योंकि उसमें एक नेता के चरित्र की व्याख्या की गई हैं। कहानी की शुरूआत एक कवि सम्मेलन के समापन के साथ होती हैं। जिस की अन्तिम कविता बेटे का भविष्य थी। जिसका सारांश कुछ इसप्रकार था। एक पिता अपने बेटे के भविष्य का अनुमान लगाने के लिए उसके कमरे में एक अभिनेत्री की तसवीर एक शराब की बोटल और गीता रख देता है और फिर छुप जाता हैं। बेटा आता है और सबसे पहले अभिनेत्री की तसवीर को सीने से लगाता हैं,चूमता है बाद में शराब की दो–चार घूँट पीता हैं। थोडी देर बाद मुँह पर गंभीरता के भाव लाकर बगल में गीता दबाये बाहर नीकल जाता हैं। बाप बेटे की यह करतूत देखकर उसके भविष्य की घोषणा हैं यह साला तो आजकल का नेता बनेगा।

'नेता' यह शब्द सिर्फ एक व्यक्ति की ओर ही निर्देश नहीं करता अपितु एक पूरे जनतंत्र की ओर निर्देश करता हैं। जिसका वह प्रतिनिधि हैं। उसके चरित्र में अच्छे गुणो की अपेक्षा आवश्यक हैं। इसलिए लेखिका उस प्रतिद्वन्धि को जवाब देने के लिए दो बार नेता के बदलते रूप और परिस्थियों के साथ कहानी लिखने की कोशिश करती हैं। लेकीन दोनों बार असफल हो जाती हैं। अंत में वह कहती है कि मैं हार गई बुरी तरह हार गई। असल में आज देश की जनता हार गई हैं नेता से अच्छी अपेक्षाएँ रखके। लेकीन क्या नेता जनता की अपेक्षाओ पर खरा उतरता हैं ? वो वादे निभाता है जो चुनाव से पहले लिए जाते हैं ? कभी नहीं, शायद इसलिए मतदान करनेवालो की संख्या कम होती जा रही हैं। स्त्री सबसे ज्यादा संवेदनशील और भावुक होती होती हैं। मन्नू भंडारी भी एक स्त्री हैं अत : स्त्री के जीवन की विडंबना को कहानी का माध्यम से व्यक्त करती हैं। 'अकेली' कहानी में मन्नू भंडारी ने मध्यमवर्गीय परंपरावादी स्त्री के जीवन की विडंबना को प्रस्तुत किया हैं। सोमा बुआ अकेली है उसके एकमात्र पुत्र के मर जाने के बाद पति भी संन्यासी हो जाता हैं। ऐसे मे पास पडोसी के अवसरो में शामिल होकर अपने अकेलेपन को दूर करने की कोशिश करती हैं। एक रूढिवादी रिवाजो से बने समाज में एक स्त्री के संस्कारों और मान्यताएँ भी उसी समाज के अनुरूप हो जाती हैं। एसी स्थिति में जो रास्ता एक स्त्री चुन सकती है, वहीं रास्ता सोमा बुआ चुनती है... "इस स्थिति में बुआ को अपनी जिन्दगी पास–पडोसवालों के भरोसे ही काटनी पडती थी। किसी के द्वार मुंडन हो, छठ्ठी हो, जनेऊ हो, शादी हो या गमी : बुआ पहोंच जाती और फिर छाती फाड़कर काम करतीं मानों वे दूसरों के घर में नहीं, अपने ही घर में काम कर रहीं हों।"[2] लेकीन जब उनके पति आते है तो उनके जीवन प्रवाह में विध्न उत्पन्न होता हैं। उनके पति उनकी पीड़ा को कभी समज नहीं पाते। उनके बीच आत्मीयता का संबंध न होकर अधिकार और आदेश का संबंध रहता हैं। सामाजिक मर्यादा का ख्याल रखते हुए संन्यासी पति बिना निमंत्रण के किसी के भी यहाँ जाने से सोमा बुआ को रोकते हैं।

***हिन्दी विभाग, गवर्नमेंट आर्ट्स कॉलेज, बेचराजी।**

आधुनिक युग में संबंधो की अवधारणा भी बदल चुकी हैं। सोमा बुआ के मन में संबंधो की जो अवधारणा हैं वहीं धारणा दूसरों के लिए नहीं हैं। आज संबंधो में गहराई नहीं बल्कि सतहीपन आ गया हैं। बदलते हुए जीवन मूल्यों की वजह से पति–पत्नि के बीच आत्मीयता का संसार ही पनप नहीं पाता। यहाँ अकेलापन सिर्फ एक स्त्री का नहीं हैं बल्कि वह आधुनिक की नियति बन गया हैं। इसलिए वह एक सामाजिक संदर्भ प्राप्त करता हैं। कई प्रश्नों को हमारे सामने खडा करता हैं। पति–पत्नि के रिश्तों के सवाल, बदलते समाज में मानवीय रिश्तों के सवाल, समाज में स्त्री की स्थिति का प्रश्न। यहाँ इस कहानी में सवाल एक स्त्री के प्रति सहानुभूति का नहीं हैं, बल्कि जीवन की स्थितियों, संस्कारो और मनोगत जरूरतो का हैं, जिसके बीच वह जी रही है। इसलिए कहानी को एक बड़ा अर्थ प्राप्त होता हैं और यही कहानी को श्रेष्ठ बनाता हैं। आधुनिक युग में जहाँ रिश्तें ही यांत्रिक बन चुके हैं, वहाँ एक मध्यमवर्गीय इन्सान का न्याय पाना तो ओर भी मुश्किल हो गया हैं। हमारी न्याय प्रणाली के बारे में कहा गया हैं कि भले ही सौ गुनेगार खुलेआम घूम रहे हो लेकिन किसी एक निर्दोष को कभी सजा नहीं होनी चाहिए। लेकिन क्या एसा होता हैं ? क्या आज निर्दोष को न्याय मीलता हैं। मीलता है तो कब ? ऐसे कई सारे सवाल खडे करती हैं यह कहानी। 'सज़ा' कहानी में एक व्यक्ति को न्याय पाने के लिए कई साल इन्तजार करना पडता हैं और इन कई सालो में जो सजा परिवार भुगतता है वह किसी कैद से कम सजा नहीं हैं। आज भी आम आदमी को न्याय पाने के लिए संघर्ष करना पडता हैं और इस संघर्ष के बावजूद भी न्याय मिलता नहीं। उस व्यक्ति को न्याय तब मिलता हैं जब उसने और उसके परिवार ने बहुंत बडी सजा भुगत ली हैं। जेल की सज़ा तो बस चार दिवारों के भीतर होती हैं लेकिन जो सजा समाज के बीच रहकर पाई थी क्या उसका न्याय दे पायेगा न्यायतंत्र ? उसके वह पाँच साल लौटा पायेगा जो वह खुशियों से जीना चाहते थे ? सब की नजरों में वह न्याय था लेकिन असल में वहीं सब सें बडी सजा थी। जब नायक की बेटी अंत में न्याय पाकर खुशी से कहती हैं... "पप्पा आप बही हो गये। सुनते है आपको सजा नहीं हुई ..सजा नहीं हुई है आपको। पर पापा फिर भी वैसे ही रहे मानों उन्हे विश्वास ही नहीं हो रहा कि उन्हें सजा नहीं हुई हैं।"[3] न्याय पाने तक एक इन्सान भीतर से टूट जाता है फिर कैसे विश्वास करे उस न्याय पर जो एक बहुंत बडी सज़ा का रूप था।

'एखाने आकाश नाई' कहानी में आज की यंत्रवत जिन्दगी में शान्ती नहीं जहाँ भीड़ में रहकर भी व्यक्ति अकेलापन महसूस करता हैं। जहाँ स्वतंत्रता तो है लेकिन वहाँ खुला आसमान नहीं हैं। लेखा और दिनेश दोनों नगरीय सभ्यता में जीनेवाले लोग हैं। लेकिन इस यंत्रवत जिंदगी से ऊबकर जब लेखा गाँव में प्रकृति के बीच खुला आसमान ढूंढने की कोशिश करती हैं लेकीन वहाँ अपने ही परिवार के बीच परायापन महसूस करती हैं उसे लगता है वह किसी दलदल में फँस गयी है जहाँ सबको एकदूसरे से सिर्फ शिकायते ही हैं। "नागरिक सभ्यता की मशीनी जिन्दगी में क्षय होती युवती, खुला आकाश खोजने वह भागे भले प्रकृति गोद में परन्तु शीघ्र ही महसूस करती है कि जिसे उसने उलझनों घूटन से दूर खुला आसमान समझा था, वह वास्तव में रुँधे पानी की मच्छर पोषित काहिया सतह है... आकाश वहीं खोजना होगा जहाँ प्रवाह हैं... भंवर है तो क्या हुआ ?"[4] 'मजबूरी' कहानी एक ऐसी बूढी अम्मा की कहानी हैं जो अपने बच्चों को सबसे ज्यादा प्यार करती हैं और यही उसका गुनाह बन जाता हैं और यहीं गुनाह उन्हें बेटू से दूर होने के लिए मजबूर करता है। जब बहू बेटू को ले जाती है तब वह सोचती हैं कि शायद बेटू उसके बिना नहीं रह पायेगा लेकिन जब उन्हें पता चलता हैं कि बेटू अब उनको भूल गया तब वह कहती हैं... "सुना नर्बदा, बेटू मुझे भूल गया, वह भूल ही गया, और उन्होंने आँचल से भर–भर आती आँखे पोंछीं और हँस पडीं।"[5] मन्नू भंडारी ने स्त्री के जीवन के हर पहलू को बारीकी से जाँचा,परखा और अभिव्यक्त किया हैं। और उनकी कहानियों को पढ़कर हमें ऐसा महसूस होता हैं कि कहीं न कहीं यह उनके भीतर की व्यथा है जो कहानियों के माध्यम से बही है।

'शायद' कहानी भी उनकी महत्वपूर्ण कहानी हैं जिसमें राखाल अपने परिवार से दूर जहाज पर मैकनिक का काम करता है। वह दो साल के बाद घर लौटता है जब अपने परिवार से मीलता है तो वह खुश हो जाता है लेकिन उसके परिवार ने जैसे उसके बिना जीना सीख लिया था। सम्बन्धों मे वह आत्मीयता, गहराई नहीं थी जो पहले थी। राखाल बस परिवार चलाने का एक माध्यम था। आज की मशीनी जिंन्दगी में पारिवारिक रिश्तो में जैसे विश्वास और आत्मीयता गायब ही हो गई है। एसी मशीनी जिंदगी में इन्सान जिन्दगी जीता नहीं है लेकिन जैसे जिन्दगी जीने की

कोशिश करता हैं। आज मानवीय रिश्तों में से संवेदनाएँ नष्ट होती जा रही हैं। "अधिकांश मध्यमवर्गीय परिवारो की स्थिति यही है कि हम अपने–अपने ढंग से गृहस्थी की मशीनों में बस तेल भर देते रहते है और संम्बन्धों के नाजुक सूत्र मशीनी जिन्दगी में अनजाने ही कहीं कुचल जाते हैं।"[6] इसी प्रकार उनकी 'बंद दराजों का साथ' कहानी में पति–पत्नि के जीवन की विड़ंबना को व्यक्त किया हैं। जहाँ दोनों साथ होकर भी उस दराजों की तरह हैं जो खंड़ित हैं। पति–पत्नि का रिश्ता प्यार और विश्वास पर टीका होता हैं। लेकीन जहाँ यह स्थान अविश्वास या संदेह लेता हैं वहाँ रिश्तों में दरारें पड़ जाती हैं। रिश्ते उस नाजुक ड़ोर की तरह होते हैं, जो अगर टूट जाएँ तो जोड़े तो जा सकते है लेकीन एक गांठ पड़ जाती हैं। मंजरी और विपिन के रिश्तें में भी कुछ एसा ही हैं। घर में एक मेज़ थी जो तीन दराजों में बँटी हुई थी। पहली दराज में रूमाल थे और तीसरी दराज खुली नहीं जिसकी चाबी ढूँढने पर भी नहीं मीली। दराज़ का ताला न खुलना कोई अनहोनी बात न होने पर भी बहुंत बडी बात थी, मंजरी को लगा विपिन सम्पूर्ण नहीं हैं केवल एक खंड़ हैं एक टुकडा। "औरत की नज़र यों ही बडी पैनी होती हैं। फिर उस पर यदि सन्देह की सान चढ़ जाए तो आकाश पाताल चीरने में भी उसे देर नहीं लगती।"[7]

आज की यांत्रिक जिंदगी में संबंधो में बिखराव नज़र आता हैं। साथ रहते हुए भी सभी खंड में विभाजित हैं। मंजरी को लगता हैं... "जिसे धरती समझकर उसने पैर रखा था, वह शून्य था कि जैसे वह एकाएक बेसहारा हो गई थी। उसे अपने घर की छत और दीवारें सब हिलती नज़र आने लगी थी।"[8] आज जिन्दगी का हर पहलू, हर स्थिति और हर सम्बन्ध एक समाधानहीन समस्या होकर ही आता हैं, जिसे सुलझाया नहीं जा सकता केवल भोगा जा सकता हैं । जिसमें आदमी निरंतर बिखरता और टूटता चलता हैं।"[9] इसी तरह 'नई नौकरी' कहानी में इन्सान खोखली और दिखावे की जिंदगी जीने की कोशिश करता हैं उसका वर्णन लेखिका ने किया हैं। उनकी 'यही सच हैं' कहानी में एक स्त्री दों इन्सानों को प्यार करती हैं। इस विषय में उनका मानना है कि, "भारतीय नारी और नारी की एक निष्ठ गरिमा के नाम पर कुछ संतोष आखिर उसे कब तक दबायें रहेंगे? क्या यह भी सच नहीं है कि अपनी पूरी इमानदारी से भावना के धरातल पर दो पुरुषो को भी नारी प्यार करती हैं। क्या यह आवश्यक ही है कि एक प्यार की स्वीकृति स्वयं को झूठा सिध्ध करके ही संभव हो ? क्यों नारी एक की भोग्या बनकर दूसरे हर व्यक्ति के लिए झूठी हो जाती हैं, नीचे गिर जाती हैं। एक ऐसी ऊँचाई भी हो सकती हैं जहाँ शरीर का एक से अधिक सम्बन्ध बहुंत नगण्य होकर दीखें...।"[10] यही लीक से हटकर लिखने की प्रवृति ही मन्नूजी को असाधारण प्रतिभा संपन्न साहित्यकार बनाती हैं। ऐसे ही उनकी 'क्षय' कहानी में एक युवती का जीवन ही जैसे क्षय होता जाता हैं उसका वर्णन हैं। वैसे ही 'चश्में', 'रानी माँ का चबूतरा', 'गीत का चुम्बन', 'आते जाते यायावर' आदि कहानियाँ आधुनिक युग में रिश्तों की बदलती हुई परिभाषा को व्यक्त करती हैं... "कथा साहित्य में अक्सर ही नारी का चित्रण पुरुष की आकाक्षाओं में प्रेरित होकर किया गया हैं।"[11]

लेकीन मन्नूजी ने वैसा नहीं किया आपके लिए स्त्री संस्कारों के जाल में फँसी हुई नहीं बल्कि उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व की खोज़ करना उनका उद्देश्य हैं और उसके लिए साहस और निर्भरता भी मन्नूजी में हैं। आपकी कहानियाँ संपूर्ण कहानियाँ हैं। आपकी कहानयों में प्रायः कस्बों और शहरों की जिंदगी के चित्र प्रस्तुत हुए हैं। मन्नूजी के लिए ऐसा कोई भी विषय नहीं हैं जिससे वे अपरिचित हो।" रुढिविद्रोही कथानकों भाव धरातलों का चयन स्वानुभूति की प्रामाणिक सहजता मन्नू की शक्ति भी हैं और सीमा भी....।'[12]

संदर्भ–सूची :–

1. श्रेष्ठ कहानियाँ–मन्नू भंडारी, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, संस्करण– १६६१, पृ. ५।
2. मेरी प्रिय कहानियाँ–मन्नू भंडारी, राजपाल एण्ड सन्ज प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–२००७, पृ. ११।
3. वही, पृ.१०४।
4. श्रेष्ठ कहानियाँ, पृ.६।
5. मेरी प्रिय कहानियाँ, पृ.२६।
6. वही, पृ.७।
7. वही, पृ.४१।
8. वही, पृ.४२।
9. वही, पृ.४३।
10. श्रेष्ठ कहानियाँ– पृ.५।
11. वही, पृ.५।
12. वही, पृ.६।

सामाजिक समझौता सिद्धांत : एक प्रदेय

डॉ. योगेशकुमार करशनभाई चाडसणिया*

परिचय :– राज्य की उत्पत्ति के संबंध में सामाजिक समझौता सिद्धांत बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। 17वीं और 18वीं सदी की राजनीतिक विचारधारा में तो इस सिद्धांत की पूर्ण प्रधानता थी। इस सिद्धांत के अनुसार राज्य दैवीय न होकर एक मानवीय संस्था है जिसका निर्माण व्यक्तियों द्वारा पारस्परिक समझौते के आधार पर किया गया है। सिद्धांत के प्रतिपादक मानव इतिहास को दो भागों में बांटते हैं (1) प्राकृतिक अवस्था का काल, (2) नागरिक जीवन के प्रारंभ के बाद का काल। इस सिद्धांत के सभी प्रतिपादक अत्यंत प्राचीन काल में एक ऐसी प्राकृतिक अवस्था के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं जिसके अंतर्गत जीवन को व्यवस्थित रखने के लिए राज्य या राज्य जैसी कोई अन्य संस्था नहीं थी। सिद्धांत के प्रतिपादकों में प्राकृतिक अवस्था के संबंध में पर्याप्त मतभेद हैं, कुछ इसे पूर्व सामाजिक और कुछ इसे पूर्व राजनीति अवस्था कहते हैं। इस प्राकृतिक अवस्था के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार या प्राकृतिक नियमों के आधार पर अपना जीवन व्यतीत करते थे। इस प्राकृतिक अवस्था के संबंध में मतभेद होते हुए भी सभी मानते हैं कि किसी कारण से मनुष्य प्राकृतिक अवस्था का त्याग करने को विवश हुए और उन्होंने समझौते द्वारा राजनीतिक समाज की स्थापना की। इस समझौते के परिणामस्वरुप प्रत्येक व्यक्ति की प्राकृतिक स्वतंत्रता आंशिक या पूर्ण रूप से समाप्त हो गई और स्वतंत्रता के बदले उसे राज्य व कानून की ओर से सुरक्षा का आश्वासन प्राप्त हुआ।

इस सिद्धांत का विकास–समझौता सिद्धांत राजनीति के दर्शन की तरह ही पुराना है तथा इसे पूर्व और पश्चिम दोनों ही क्षेत्रों से समर्थन प्राप्त हुआ है। महाभारत के शांति पर्व में इस बात का वर्णन मिलता है कि पहले राज्य नहीं था, उसके स्थान पर अराजकता थी। ऐसी स्थिति में तंग आकर मनुष्य ने परस्पर समझौता किया और मनु को अपना शासक स्वीकार किया। आचार्य कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में इस बात को अपनाया है कि प्रजा ने राजा को चुना और राजा ने प्रजा की सुरक्षा का वचन दिया।

यूनान में सबसे पहले सोफिस्ट वर्ग ने इस विचार का प्रतिपादन किया। उनका मत था कि राज्य एक कृत्रिम संस्था और एक समझौते का फल है। इपीक्यूरियन विचारधारा वाले वर्ग ने इसका समर्थन किया और रोमन विचारकों ने भी इस बात पर बल दिया कि "जनता राज्य सत्ता का अंतिम स्त्रोत है।" मध्य युग में भी यह विचार काफी प्रभावपूर्ण था और मेनगोल्ड तथा थामस एक्विनास के द्वारा इसका समर्थन किया गया।

16वीं और 17वीं सदी में यह विचार बहुत अधिक लोकप्रिय हो गए और लगभग सभी विचारक इसे मानने लगे। रिचर्ड हूकर ने सर्वप्रथम वैज्ञानिक रूप से समझौते की तर्कपूर्ण व्याख्या की और डच न्यायाधीश ग्रोशियश पूफेण्डोर्फ तथा स्पिनोजा ने इसका पोषण किया, किंतु इस सिद्धांत का वैज्ञानिक और विधिवत रूप में प्रतिपादन हाब्स, जॉन लॉक और रूसो द्वारा किया गया, जिन्हें 'समझौतावादी विचारक' कहा जाता है।

सामाजिक समझौता सिद्धांत की आलोचना (criticism of social contract) 17वीं, 18वीं सदी में समझौता सिद्धांत अत्यंत लोकप्रिय रहा, परंतु 18वीं सदी के अंत और 19वीं सदी के राजनीतिक विचारकों द्वारा कटु आलोचना की गई है। ब्लंटशली ने इस सिद्धान्त को अत्यधिक भयंकर, वूल्जे ने 'सरासर झूठा' तथा ग्रीन ने इसे कपोल–कल्पना, कहकर सम्बोधित किया है। सर हेनरीमेन ने तो यहाँ तक कहा है कि," समाज तथा सरकार की उत्पत्ति के इस वर्णन से बढ़कर व्यर्थ की वस्तु और क्या हो सकती है।" वेग्थम सर फ्रेडरिक पोलक, वाहन,

*** अध्यक्ष–समाजशास्त्र विभाग, गवर्नमेंट आट्‌र्स कॉलेज, बेचराजी।**

एडमण्ड वर्क आदि विचारकों ने भी इस सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। इस सिद्धान्त की आलोचना ऐतिहासिक, दार्शनिक, तार्किक तथा वैज्ञानिक निम्नलिखित आधारों पर की गई है।

सामाजिक समझौता सिद्धांत की ऐतिहासिक आधार पर आलोचना : ऐतिहासिक आधार पर आलोचना निम्न रूपों में की गई हैकृ

1. समझौता अनैतिहासिक : ऐतिहासिक दृष्टि से यह समझौता सिद्धान्त असत्य है क्योंकि इतिहास में कहीं भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता कि आदिम मनुष्यों ने पारस्परिक समझौते के आधार पर राज्य की स्थापना की हो। इस सम्बन्ध में डॉ. गार्नर का कथन सत्य ही है कि," इतिहास में कोई ऐसा प्रामाणिक उदाहरण नहीं मिलता जिसके अनुसार ऐसे व्यक्तियों द्वारा, जिन्हें पहले से राज्य का पता नहीं था, अपने समझौते से राज्य की स्थापना की गई है।"

2. प्राकृतिक अवस्था की धारणा गलत : सामाजिक समझौता सिद्धान्त मानव इतिहास को दो भागों में विभाजित करता है– (अ) प्राकृतिक अवस्था तथा (ब) सामाजिक अवस्था। ऐतिहासिक दृष्टि से यह विभाजन असत्य है, क्योंकि इतिहास में हमें ऐसी अवस्था का प्रमाण नहीं मिलता। जब मनुष्य संगठन–विहीन अवस्था में रहा हो।

3. राज्य विकास का परिणाम है, निर्माण का नहीं : इतिहास से पता चलता है कि राज्य अन्य मानव संस्थाओं का धीरे–धीरे विकास हुआ है। सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य प्रारम्भ में परिवारों में, फिर कुलों, फिर कबीलों और जनपदों तथा राज्यों में संगठित हुआ। लॉ फर के शब्दों में, " परिवार की भाँति ही राज्य समाज के लिए आवश्यक है और वह समझौते का नहीं वरन् वस्तुस्थिति के प्रभाव का परिणाम है।" अतः सामाजिक समझौता सिद्धान्त के इस तथ्य को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि राज्य का किसी एक विशेष समय पर निर्माण हुआ है।

सामाजिक समझौता सिद्धांत की दार्शनिक आधार पर आलोचना : दार्शनिक आधार पर इस सिद्धान्त की आलोचना निम्न प्रकार की जाती है–

1. राज्य की सदस्यता अनिवार्य है, ऐच्छिक नहीं : राज्य की सदस्यता ऐच्छिक नहीं वरन् अनिवार्य होती है। व्यक्ति उसी प्रकार राज्य के सदस्य होते है जिस प्रकार परिवार के। बर्क के शब्दों में, " राज्य को काली मिर्च, कहवा, वस्त्र या तम्बाकू अथवा ऐसे ही अन्य सामान्य व्यापार की साझेदारी समझौते के समान नहीं समझा जाना चाहिए जिसे अस्थायी स्वार्थ के लिए कर लिया गया हो और समझौते के पक्ष इच्छानुसार भंग कर सकते हों। इसे सम्मान की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। यह तो समस्त विज्ञान, समस्त कला, समस्त गुणों और समस्त पूर्णता के बीच साझेदारी है।" सामाजिक समझौता सिद्धान्त राज्य को ऐच्छिक समुदाय बताता है जो पूर्णरूपेण गलत है।

2. राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धों की अनुचित व्याख्या : सामाजिक समझौता सिद्धान्त राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धों की गलत व्याख्या प्रस्तुत करता है। व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध मानवीय स्वभाव पर आधारित होते हैं किसी समझौते पर नहीं। वॉन हॉलर के शब्दों में, " यह कहना कि व्यक्ति और राज्य में समझौता हुआ उतना ही युक्तिसंगत है जितना यह कहना कि व्यक्ति और सूर्य में इस प्रकार का समझौता हुआ कि सूर्य व्यक्ति को गर्मी दिया करे।"

3. राज्य प्राकृतिक संस्था है : सामाजिक समझौता सिद्धान्त के अनुसार, राज्य का निर्माण व्यक्तियों द्वारा किया गया है। अतः यह एक कृत्रिम संस्था है जबकि आलोचकों के अनुसार राज्य मानव के स्वभाव पर आधारित एक प्राकृतिक संस्था है। मालबर्न का कथन है कि," राज्य व्यक्तियों के बीच स्वेच्छा से किये गए समझौते से नहीं बना

है। मनुष्यों को उन सामाजिक आवश्यकताओं से वाध्य होकर राज्य में रहना पड़ा, जिनसे वह बच नहीं सकता था।"

4. विद्रोह का पोषक : सामाजिक समझौता सिद्धान्त राज्य को व्यक्तिगत सनक का परिणाम बताकर विद्रोह, क्रान्ति तथा अराजकता का मार्ग प्रशस्त करता है। लाइवर के अनुसार, " इस सिद्धान्त को अपनाने से अराजकता फैलने का डर है। ब्लंटशली के अनुसार, " सामाजिक समझौता सिद्धान्त अत्यन्त भयानक है, क्योंकि यह राज्य और अन्य संस्थाओं को व्यक्तिगत सनक का परिणाम बताता है।"

5. प्राकृतिक अवस्था में अधिकारों का अस्तित्व सम्भव नहीं : लॉक का विचार है कि प्राकृतिक अवस्था में भी व्यक्ति प्राकृतिक अधिकारों का उपयोग करते थे किन्तु यह धारणा नितान्त भाम्रक है, क्योंकि अधिकारों का जन्म समाज में होता है तथा राज्य में रहकर ही अधिकारों का प्रयोग किया जा सकता है।" ग्रीन के शब्दों में, " प्राकृतिक अवस्था में, जो कि एक असामाजिक स्थिति होती है, अधिकारों की कल्पना स्वयं ही एक विरोधाभास है।"

तार्किक आधार पर आलोचना : सामाजिक समझौता सिद्धान्त तार्किक दृष्टि से भी असंगत है। प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले व्यक्तियों में जो कि राज्य संस्था से बिल्कुल अपरिचित थे, एकाएक ही राजनीतिक चेतना कैसे उत्पन्न हुई? यह बात समझ में नहीं आती है, क्योंकि राजनीतिक चेतना सामाजिक जीवन में ही उत्पन्न होती है, प्राकृतिक अवस्था में नहीं। कहावत है कि, " एक रात में चीता अपना नहीं बदल सकता।"

सामाजिक समझौता सिद्धांत की वैधानिक आधार पर आलोचना : वैधानिक आधार पर इस सिद्धान्त पर निम्न आक्षेप लगाये जाते हैं–

1. प्राकृतिक अवस्था में समझौता असम्भव : आलोचकों के अनुसार, प्राकृतिक अवस्था में किये गये समझौते का वैधानिक दृष्टि से कोई महत्व नहीं है क्योंकि कोई समझौता तभी वैध होता है जब उसे राज्य की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है लेकिन प्राकृतिक अवस्था में राज्य का अभाव होने के कारण समझौता वैध नहीं है। ग्रीन के शब्दों में, "समझौता सिद्धान्त में चित्रित प्राकृतिक स्थिति के अन्तर्गत कानूनी दृष्टि से कोई समझौता नहीं किया जा सकता है।"

2. समझौता वर्तमान में लागू नहीं : कोई भी समझौता जिन निश्चित लोगों के मध्य होता है उन्हीं पर लागू होता है। कानूनी दृष्टि से किसी अज्ञात समय में अज्ञात व्यक्तियों द्वारा किया गया समझौता उसके बाद के समय और वर्तमान लोगों पर लागू नहीं किया जा सकता। बेग्यम के अनुसार, "मेरे लिए आज्ञापालन आवश्यक है, इसलिए नहीं कि मेरे प्रपितामह ने तृतीय जार्ज के प्रपितामह से कोई समझौता किया था, वरन् इसलिए कि विद्रोह से लाभ की अपेक्षा हानि अद होती है।"

References :-

1. AL Basham, *The Wonder That Was India*, pp. 83
2. Quentin Skinner, *The Foundations of Modern Political Thought: Volume 2: The Age of the Reformation* (Cambridge, 1978)
3. Hobbes, Thomas (1985). *Leviathan*. London: Penguin. p. 223. ISBN 9780140431957.
4. Hume, David. *Essays, Moral, Political, and Literary, Part II, Essay XII, Of The Original Contract*.

ꕥ★ꕥ

Tool For Stydy Testing : Rubrics

Patel Khushbu Dineshbhai*

Dr. Kirtiben Thakr**

Summary : Rubric is a device used to test studies. Rubric provides a percentage or grade but specifically determines the level of performance based on a description of the main components of the study. With Rubrics, a student's progress can be accurately and systematically monitored. Rubrics is therefore determined in terms of study yield. Rubric is like a trick. In which the main components of the study work in the vertical row while in the horizontal row certain criteria are determined according to its orbits. Which are in descriptive form. The measurements of the Rubric vary depending on its type. It is impossible to form rubrics. The levels of his achievement are determined. Its quality is maintained if it is designed or tested by experts. It is important to use step by step and carefully, especially when using rubrics. Weaknesses and strengths are clearly noticed when testing with Rubric. Guidance is available for further mastery of the work. Students are informed of the reason for the grade they get at the end of the test. It is important to have a thorough understanding and practice when testing with Rubric. It is difficult to measure knowledge, skills and attitudes with the help of Rubrics.

Key words : rubrics, study test, device

Introduction : Testing the study means evaluating the performance of the student. There are many devices available for evaluation or testing. Let's get some information about Rubrics.

Rubrics is a very useful tool for testing studies. Other tools provide percentages or grades. While Rubrics is special from other tools. Rubrics determines the level of performance based on a description of the main components of the study.

Objectives of research

1. Getting Introduced to Rubrics.
2. Knowing the nature of rubrics.
3. B.Ed. on the use of rubrics. To know the responses of the trainees, professors and principals of the college.

Research method : The survey method was used in the presented research.

Population & sampling : In the present research, all the B.Ed. affiliated to Veer Narmad South Gujarat University as a world wide. College was included. Out of which five B.Ed. Chose college. All the trainees, professors and principals of the second year of the college were included.

Research tools : The research used Interview for principals and professors and questionnaires for trainees.

Data collection and Data analysis : In the present research, the researcher collected information by visiting the college in person. The information obtained was analyzed qualitatively.

*** (Research Scholor, Veer Narmad South Gujarat University, Surat) Assi. Professor, M.K. Mehta College Of Education, Umargam.**

**** Assi. Professor, Department Of Education, VNSGU,**

Findings of research : What is Rubrics? (Introduction to Rubrics) : A Rubrics is a test tools. Which helps in accurately structured and systematic examination of the student's progress. It is more of an excellent tool to demonstrate the ability of the work done than grades and grades. Rubrics simply means 'explanation groups'. Rubrics means 'precisely defined standard behavior'. The word rubrics is derived from the original 'red'. The word rubrics comes from an important piece of writing that was written in 'red' ink or attractively in the Middle Ages. The term rubrics was used in the medical field to label diseases or processes. The term 'rubrics' has been used in medical education for the purpose of constructing standardized developmental rankings. It was first defined for testing in the 1970. It was originally intended for children's self-reflection and self-assessment. In this new perspective, rubrics are determined in terms of study yield.

The structure of rubrics is like a table. Which has vertical and horizontal rows. The vertical rows are noted to test the main components of the task to be performed. While its orbits are determined in horizontal rows. Its parameters are written in the first horizontal row. Which can be 3 to 6 levels. The elements are described in horizontal rows by determining their orbits. Thus, Rubrics is formed. Lastly, there is space for writing grades based on the measurement level. So that the students realize its level. Students get direction for the quality of their work and diagnosis.

The form of rubrics

Types of Rubrics : Only two types of rubrics are commonly found. 1. Analytical Rubrics 2. Developmental Rubrics. But there are five types of rubrics to get a more in-depth understanding and clarity. Information on the types of rubrics is as follows.

1. **Analytical Rubrics** In this type of rubrics, the components to be tested are subdivided into different components. Behaviors expected from the student side are written in the vertical box on the left. Numbers or descriptive words are written in the horizontal row above. Descriptive notes of expected behaviors based on specific criteria are noted. These expected behaviors indicate a certain level of student work. When multiplication is done with the help of analytical rubrics, the multiplication of each criterion is done separately.
2. **Developmental rubrics :** The main difference between analytical rubrics and developmental rubrics is that developmental rubrics do not test the final product. But these types of rubrics are designed to get answers to important questions. This type of rubrics is commonly used to test questions based on development principles.
3. **Holistic rubrics :** All aspects of the student are taken into account when evaluating with overall rubrics. As such, a specific score is awarded based on art-skill, problem-solving and other overall impressions. The whole work of the student is evaluated based on the description on the criteria. Grades are determined based on that.
4. **General rubrics :** Extensive study results can be obtained using general rubrics. This type of rubrics has a wide area. This type of rubrics is used for problem solving, calculation, essay writing, communication. Some things are common in different subjects. In which language mastery, logic, interpretation, understanding, problem solving etc. In which it is more important to check whether he got the answer as a problem solution or not. Rubrics means 'general rubrix' to test such common things.
5. **Task Specific Rubrics :** These types of rubrics are designed for a specific function. These types of rubrics are designed to test a student's specific task. Task-based knowledge and skills are used as

criteria. This type of rubrics is used when there is a specific theme, information, concept, illustration or research proposal.

Composition of Rubrics :

1. Determine the main component criteria of the performance that is to be tested by the student first.
2. In the second stage, decide how many levels of performance to measure. In which 3rd, 4th or 5th classes are decided.
3. First prepare a clear description of the operation required for the main component criteria determined. Arrange it by rank.
4. If you feel the need to add additional comments, make room for that and for the final grade.

Example of Rubrics :

Story telling	**Mandatory amendment (1)**	**Need improvement (2)**	**Adequate improvement (3)**	**Better than average (4)**
Information and ideas	The purpose of the story is not clear. There seems to be no uniformity of thought in the text.	The purpose of the story is subtly identified. There is less uniformity in the ideas of the text.	The purpose of the story is clearly identified. There seems to be a uniformity of thought in the text.	The original, excellent identification of the purpose of the story takes place. Thoughts are clearly woven into the text. The uniformity is excellent.
Grammar and spelling	10 or more errors appear on a single page of text. Not interested in reading due to grammatical errors.	There are 3 to 4 errors on a single page of text. Grammatical errors are sometimes found.	There are 3 errors in this single foot of text. The meaning of reading is understood desperate grammatical errors.	The text seems to be flawless. Excellent combination in grammar leads to interest in reading.
Title and lesson	The title of the story does not fit. The text of the story is not coherent, not instructive.	The title of the story does not seem appropriate to some extent. The story is less interesting, the teaching is not understood.	The title of the story is appropriate. Enlightenment comes from the story.	The title of the story fits. The lessons learned from the story are excellent.
Trade				

Use of Rubrics :

1. First, design the rubrics for the assignments to be assigned to the students.
2. Give the students the rubrics for the work you assign.
3. Ask them to study the rubrics before starting the operation.
4. Instruct the students to attach the Rubrics as well when they complete the task assigned to them.
5. When working, ask the student to mark or highlight the level of achievement he or she has achieved with respect to each criterion.
6. Add additional comments if necessary to the criteria in Rubrics.

7. Based on the student's performance, place the final grade grade on the basis of rubrics.
8. Finally tell the students to study according to its performance and expectation of Rubrics.

Trainees' opinions on the use of Rubrix:

1. Rubrics provides a clear understanding of the test. The task of taking care of the subtle things can be done easily.
2. Weaknesses and strengths are clearly noticed when testing with rubrics.
3. Rubric provides a framework for testing work. It guides the trainees to work.
4. Rubric provides insight into the mastery of the work due to the descriptive level of the main components.
5. The grade obtained at the end of the test. The reason for that is reported to the students.
6. The composition and use of rubrics develops a contemplative vision
7. Rubricks give a clear idea for the diagnosis of work or for gaining more mastery.
8. Rubrix is difficult to form. But once learned it seems more interesting.
9. Trainees get an idea of the level of their work.
10. Rubrics identifies important aspects of study work.

Responses of professors and principals regarding the use of Rubrix:

1. The main purpose of Rubrix is to test the work done by the scholar.
2. Encourages trainees to think about testing their performance.
3. The use of Rubrix saves the examiner's time. Also, can show a clear opinion.
4. With the use of Rubrix, the aspect of the work can be given a clear mark or grade in a subjective manner.
5. What are the things the examiner expects while conducting the test? Or the understanding of what is best is clear.
6. The examiner's ideas, excellent quality and the shortcomings in the student's work are clearly understood.
7. There is more precision in the work of the examiner.
8. Rubrics can be used multiple times after a single formulation.
9. It is necessary to have complete understanding and practice while testing with Rubrix.
10. It is difficult to measure knowledge, skills and attitudes with the help of Rubrics.

Closing : Rubrics is a very useful tool. Which is important for both the student and the examiner. While testing the work, it is easy for the student to know its quality and for the examiner to give its decision. Students have access to their work level, quality of work and direction for diagnosis and treatment. Rubrics is difficult to formulate but its reliability and quality are maintained if done under expert guidance.

Reference :-

1. Ansari, I. K. (2016). Assessment for Learning (1st Edition) Ahmedabad: Amol Prakashan
2. Uchat, D. A. (2009). Methodology of research in education and social sciences. Rajkot: Saurashtra University
3. Baraiya, V.V. And others, (2015). Assessment for Learning (First Edition) Anand: Prateek Prakashan
4. Desai, H. G and Desai K. G. (1992). Research Methods and Techniques Ahmedabad: University Granth Nirman Board, Gujarat State
5. Mali, A. (2015). Critical understanding of ICT. (First edition). Ahmedabad: Amol Prakashan
6. Patel, R. (2012). Research in Education (First Edition) Ahmedabad: Jay Publication

Origin of the Aryans

Santosh Kumar*

Introduction :- Who were the Aryans? There are problems regarding the original home of the Aryans. After the decline of the Indus valley civilization, we find the Vedic or Aryan civilization in India. It is evident from the Vedic literature. But the original habitation of the Aryans is still controversial.

Arya is an etemology of Sanskrit language. The word Aryan means supreme, excellent and born in the highest kula (pedigree). In fact, it denotes a special group or caste which spoke the Indo-European languages. The German scholar F. Max Mueller says in the view of philology the word Aryan means linguistic group not the racial group. They were superior to the other castes or tribes known as daasa or dasyus. The Vedas describe them white-coloured, well-statured and robust. On the contrary, the anaaryans or non-Aryans were black in complexion.

Only Rigveda is helpful text to say about them (Aryans) because the archaeological evidence is not suffice. No material remains of the Aryans have been found, it is because their life was not sedentary at that time.

In the view of some scholars, they were foreigners. On the other hand, some try to prove them as original inhabitants of India. In this regard, they provide different arguments on the basis of history, archaeology, philology, vocabulary and anthropology etc. There are eight theories or opinions so far formulated for it :-

1. Europe the origin place of the Aryans,
2. Middle Asia or Central Asia,
3. The Arctic region,
4. The Tibetan origin,
5. India itself,
6. Khirghiz steppe,
7. Western Siberia &
8. The Saka-Dwipa etc.

1. First of all, Phillipo Seseti a Florentine scholar, on the basis of similarity between Sanskrit and other European languages propounded that “Aryans were dwellers of Europe”. Apart from Seseti, Sir William Jones, A. Macdonell, P. Giles, Penca, Nehring etc. tried to argue that “Europe was their place of birth”. The view accepted in the West is that the original home of the Aryans was in the South-East Europe. From there they spread towards Europe, Central Asia and lastly to India in small branches. Before coming to India the Aryans reached Iran. Here, the Indo-Iranians lived for long. According to William Jones, A. Macdonell and P. Giles, “the ancestors of the people of Europe, Persia and India used to speak one language because there is fundamental similarity among English, French, German, Persian and Sanskrit”. For example, there is large similarity among or between Sanskrit, Persian, Latin, Gothic and Slav languages. In Sanskrit pitaa is called pitri and maataa is called matri, in Persian pidar and madar, in English father and mother, in Latin patter and matter and in German batter which are homophonetical or homonyms.

*** Assistant Professor (History), B. P. S. College, Bhore, P.O. – Bhore, P.S. – Bhore, Distt. – Gopalganj, Bihar-841426. India.**

P. Giles studied Botany and found "names of flora and fauna e.g. birch, oak, pine and willow mentioned in the Rigveda which all are not seen in India but mostly in Europe where agriculture and domestication could be practiced". According to Dr. P. Giles, "when they lived at one place they were called wiros. They knew the art of agriculture and called themselves Airya. The word Arya means the persons of good family. This region possibly included Austria, Hungary, Bohemia or the Danube valley".

According to A. Macdonell, "trees like birch, oak, pine, willow and the common animals like horse and cow as shown by the study of the Rigveda and the Zend Avesta could be found in South-Eastern Europe".

Panca on the basis of phisiography and racial similarity (races) proclaims, "Germany and Scandinavia to be the initial residence of the Aryans".

Nehring on the basis of botanical resemblances postulates, "Southern Russia was the original inhabitation of the Aryans". According to him Tripolje culture of the South Russia was the original culture of the Indo-Europeans.

But a lot of difficulties are there to accept these views. There is no any historical tradition of the Europeans to settle in Iran or in India. The linguistic similarity does not confirm it. Even there is no any European text contemporary to the Rigveda. Another problem is the nomenclature of the animals, birds, plants and other objects do not necessarily seem to have origin in Europe only. The racial similarities are seen not only with the German-Aryans and Indo-Aryans but also with Poland and Ukraine. Likewise, the pre-historic artifacts and pots recovered from Mid- Germany and Southern Russia are similar to those ceramics found in Ukraine, Turkistan and New Zealand. Obviously, some of which are outside of the Europe.

Moreover, Sigmund Feist has proved that "the Germans did not belong to the Indo-European stock because Germany was covered with dense forests long after the prehistoric times".

Apart from the above, Sir Aurel Stein has shown that "there was a great civilization in the Chinese Turkistan". Even Hiuen Tsang referred to "a flourishing civilization in Central Asia (maybe Turkistan)". In those days, there was a temperate climate and abundance of food there.

Keeping these all in mind, hence, it is not certain to concede the European origin of the Aryans.

2. Several scholars assume that middle Asia was the point of origin of the Aryans and from there they influxed into India. F. Max Mueller saw amazing similarity between the Rigveda and Zend Avesta. He expressed his idea that the Aryans were inhabited in the Middle Asia and from there they moved towards Europe and other parts of Asia. His effort was to focus that the Indo-Aryans and the Persian-Aryans, in the beginnings used to live together somewhere in between India and Iran. In central Asia there was an appropriate environment for cultivation and domestication. According to Avesta-i-Zend the first creation of man took place in Airyana Voejo. Places connected with Airyana Voejo are in Central Asia. Lateron, they branched off to different parts due to political and geographical causes. Few Aryan names are mentioned in the Kassi inscriptions dated 1600 B.C. of Iraq. It indicates that one Iranian branch of the Aryans paced forth westwards. The Aryan groups came to India via the North-Western passes. There is a legend in the Avesta which clearly refers to the invasion of Punjab by the Aryans. The Aryans came into India about 1500 B.C. But no concrete or conspicuous archaeological trace is obtained. Perhaps, they used hand-axes, bronze spear-heads and swords as these have been found in North-Western India.

Prior to F. Max Mueller, Meyor and Rehard presupposed that "the original homes of the Aryans were in Pamir and Bactria respectively". These scholars perceive that the Aryans at the inception, used

hima-varsha (ice-year) for calculation. Nextwards, they began to reckon year on the basis of sharad (Autumn). It is evident from this that the outflux /excursion of the Aryans was southwards where there was lesser cold. The Aryans were well known to the rivers and forests. They were familiar with cow, horses and boats. They knew peepal but were unfamiliar with sea, rice, mango and banyan trees. They were not acquainted with elephant, lion and tiger too. These circumstances were in middle or central Asia. Thus it is inferred that the Aryans initially were inhabitants of the Middle Asia.

In addition to the literary sources, few archaeological evidence also indicate that Middle Asia was their cradle. For instance, their oldest inscription dated 1400 B.C. was obtained from Boghazkoi. Many Vedic deities e.g. Indra, Mitra, Varuna etc. have been mentioned in it. So, it is unequivocal to say that Indian Aryans were the Mid-Asian Aryans.

P. Giles criticizes, "F. Max Mueller and other such scholars who advocated the theory of the Central-Asian origin of the Aryans. He argued the land of Mid-Asia or Central Asia was infertile and there was no enough rainfall. Therefore this region was unfavourable for animal husbandry and farming. Neither is Asia mentioned in the Rigveda and Avesta nor we find any traits or characteristics of the Aryans in the modern residents of Mid-Asia". Question arises if Mid-Asia was their motherland then how their descendants eliminated from here? This is a very complicated query to reject the Asian theory of the Aryan origin.

The most reliable theory is the Mid-Asian origin of the Aryans because :- (I) It is in between India and Europe, (II) The geographical and natural scenes mentioned in the Rigveda were present in the Middle or Central Asia, (III) The Aryans were not familiar with the sea and there is/ was no any sea in the Middle Asia, (IV) The Boghazkoi rock inscription confirms that Middle Asia was their early home, (V) The evident similarities of the Avesta and the Rigveda prove that the Indo-Aryans and the Persians were the people of the same stock. So their original place should be nearby in the middle Asia, (VI) Land of the Middle Asia was less fertile to accommodate or cope with the growing population therefore they had to move towards fertile lands in India and Europe. (VII) There is also historical tradition of many races coming from Middle or Central Asia to India.

3. Lokmanya B. G. Tilak wrote a book entitled "The Arctic Home of the Aryans". "His conception is the Arctic region or Northern polar area was the original home of the Aryans. His conclusion is based on the description of the scenes and the landscapes mentioned in the Rigveda and the Avesta-i-Zend. Their original land had extreme cold, continuous days and regular nights as is supposed to be six months each. These circumstances were possible only in the Northern polar areas. This was an area of heavy icefall. This hard situation enforced them to leave this region around 8000 B.C. He pointed out that from here the Aryans migrated towards Europe, Iran and India". C. V. Vaidya wrote an article entitled "Indo-Aryan Invasion of India not a Myth", pp253-260, in IHQ, 1929. "He points out that their chief deities were Agni (fire) and Usha. It means they lived in cold region. These deities were remembered by the Vedic Aryans. There are five seasons mentioned in the Rigveda". Sudasa crossed the rivers of the Punjab helped by prayers of sage Vishvamitra. The Nadisutra of the Rigveda mentions the Saryu river of Oudh very late. There is a legend in the Avesta which clearly refers to the invasion of Punjab by the Aryans.

The geologists have proved that in the prehistoric age, the land and environment of the Arctic region was suitable for human survival. They have also proved that this region had a congenial climate and a perpetual spring. It is pointed out that the horizontal movement of the stars is a peculiar experience of the polar region. "Tilak worked on the theory that the earth is losing heat day by day. The varying ushas with

elaborate rites are stated to be same as the perpetual day of the astronomers". But many scholars do not agree with his (Tilak's) view.

4. Swami Dayananda Saraswati in his book 'Satyartha Prakash' says, "Tibet was the aadi-desha (original country) of the Aryans. He writes that the plants, birds and animals mentioned in the Rigveda were found in Tibet. As population grew, they came to settle in the Indian plains". F. E. Pargiter in his book ("Ancient Indian Historical Tradition", London, 1922) has supported this view of Swamin Ji. But it has no solid base so is partially acceptable.

5. The famous Bengali scholar Avinash Chandra Das in his book "Rigvedic India", supposed "the Sapta-Sindhu area or Punjab to be the original spot of the Aryans. The seven rivers were the Indus, Jhelum, Chenab, Ravi, Beas, Satluj and Saraswati. Extent of the Sapta-Sindhu – Kashmir valley on North, Rajaputana in South, Gandhara on the West and its Eastern boundary covered the Gangetic through. The geographical conditions described in the Rigveda point out to this region". Scholars like Raj Bali Pandey and Sampurnananda supported him. "Their reason is that Sapta-Sindhu province is described as Divine land or Land of paradise (deva-tulya bhumi) in the Rigveda. The flora, fauna and the physical surroundings reflected in the Rigveda were available here". Gangadhar Jha, L. D. Bhalla and Deva Sahaya Trivedi all tried to prove "the Aryans to be original Indians. India was connected with Western Asia by land and the Aryans migrated from Sapta-Sindhu to the west. The Iranians and Europeans must have migrated from India. There is no tradition which refers to the immigration of the Aryans from outside. Moreover, there is no any implication for the Aryans to be outsiders".

Contradiction is if the Aryans were the original inhabitants of the fertile Sapta-Sindhu region then why did they go to settle in the less fertile lands of Iran and Middle Asia? In history, Indian races did not go outside only foreign races came to India. Thus, Lassen criticizes theory of Indian origin of the Aryans because they were not acquainted with rice, mango, banyan trees, elephant, lion and tiger etc. Schlegel says they could not have come from the southern extremity but from a central place in various directions. Moreover, the discovery of the Harappan civilization validates that the Anaryas (non-Aryans) dwelt in the Sapta-Sindhu area in the 3^{rd} millennium B.C.

6. Brandenstein pointed out that "the undivided Indo-Europeans originally lived in Khirghiz steppe. From there, the Indo-Iranian tribes moved eastwards and others westwards to North Europe and Ukraine". Prof. E. J. Rapson refers to "the eruption of the Aryans from the North-East". A Babylonian table of 2100 B.C. shows that the horse was newly introduced among ass-using people. Around 21^{st} century B.C. horse was called "donkey of the East".

7. In the view of Morgan, "the cradle of the Indo-Europeans was in Western Siberia. The population of Siberia poured out towards the Danube, Iran and the Far East because it became cooler".

8. R. A. Jairazbhoy points out that "Aryans speaking the Vedic language are mentioned in a late tradition as having descended from common ancestors of the Kashyapa who lived in the Saka-dwipa or western region bordering the Caspian". In addition to it, in the Nakshi Rustam inscription of Darius the Scythians are mentioned living beyond the sea.

Conclusion :- The original home of the Aryans was somewhere in the Eastern region of the Alps in Eurasia. This fact seems from different reasons. They reached Iran first. One of the Indo-Iranian hordes went towards the West. By this it is proven that the Aryans came to India from across the North-Western routes in 1500 B.C. They strived to make it own habitation. The province where they settled first was Sapt-Sindhu area mentioned in the Rigveda. The seven rivers that flowed were the Indus, Jhelum (Vitastaa),

Chenab (Asiwani), Ravi (Parushani), Beas (Vipaash), Satluj (Shutudri) and Saraswati. Their early settlements were in Afghanistan, Punjab, Rajasthan and western U.P. Kubhaa (Kabul), Krumu (Kurram) and Suwaastu (Swat) like rivers of Afghanistan are found in the Rigveda. In the same text Aapayaa, Drishadwati and Saraswati rivers of Rajasthan are described. Saraswati lateron was dessicated to merge into desert. Now Ghaggar-Hakra flows there. They got copper from Khetri mines. Since it was used first of all so the Hindus perceived it pious or sacred. Copper vessels are used in the religious activities even today. It was utilized by the early Vedic and Vedic people. They lived in the Punjab, Rajasthan, Gujarat and the doab of the Ganga-Yamuna. The Nadisutra of the Rigveda mentions the Saryu river of Awadh very late. It is evidenced that the Aryans moved eastwards. They were primarily nomads and pastoralists. They tamed many animals. Horse and cow were the principal cattle. Farming was their secondary occupation.

The flow of story :- The Panchala kings in the Rigveda were Diodasa, Srinjaya and Sudasa. It is revealed in the Rigveda that Diodas of Bharat kula (clan) defeated Shambara. The name of Bharat is in the Rigveda. India was named 'Bhaaratvarsha' after it. The Aryans used to mutual collision and had to fight with the non-Aryans too. There occurred/ outbroke battle of Pancha-jana (five tribes) in which they also sought assistance of the non-Aryans. Sudasa crossed the rivers of the Punjab helped by the prayers of sage Vishvamitra. Bharat and Tritsu were Aryan rulers. Sage Vashishtha was their supporter. The group of ten kings became hostile to the Bharata tribe. Out of these five were Aryan chiefs and five non-Aryan chieftains. They fought 'Battle of Ten Kings' (Dasaraaja-yuddha) on the bank of the Parushani (Ravi) riverine. In it victory accrued to Sudasa and the dominance of the Aryans was established. Amongst those who were defeated prominent were Purus.

Reference :-

1. V. D. Mahajan – Ancient India- pp96-101, ch.-VI, New Delhi, 2005.
2. F. Max Muller –'History of Ancient Sanskrit Literature',
3. Macdonell –'Sanskrit Literature',
4. I. Taylor – 'The Origin of the Aryans', 1889.
5. V. Gordon Childe – 'The Aryans', (A Study of Indo- European Origins), London, 1926.
6. E. J. Thomas – (art.) "The So-called Indo-Aryan Invasion", pp248-52, IHQ, 1929.
7. Jainath Pati – (art.) "Is the Indo-Aryan Invasion a Myth?" IHQ, 1929.
8. C. V. Vaidya – (art.) "Indo-Aryan Invasion of India not a Myth", pp253-260, in IHQ, 1929.
9. B. G. Tilak – 'The Arctic Home of the Aryans',
10. R. B. Pandey –'The Puranic Data on the Original Home of the Indo-Aryans', IHQ, pp94-103, 1948.
11. F. E. Pargiter – "Ancient Indian Historical Tradition", London, 1922.
12. Swami Dayananda Saraswati – 'Satyartha Prakash'.
13. Avinash Chandra Das – "Rigvedic India",
14. S. K. Hodivala – 'Indo-Iranian Religion', 1925.
15. A. Kalyan Raman – 'Aryatarangini – The Saga of the Indo-Aryans', vol.1, 1969.
16. R. C. Sinha – 'Bharti Passport to Inter History-1', pp35-37, ch. -1, Gyan Bharti Prakshan, Patna.

पत्रिका में शोध-लेख प्रकाशन की अनिवार्य शर्तें

1. आपके द्वारा प्रेषित शोध–लेख मौलिक, स्तरीय, प्रकाशन के योग्य एवं अप्रकाशित हो, तथा आपके द्वारा **आलोचन दृष्टि** द्वारा जारी किया गया **लेखक का घोषणा–पत्र** फार्म अवश्य भरा होना चाहिए।
2. अपने शोध–लेख (हिन्दी व संस्कृत के Kruti Dev 10 में और अंग्रेजी के Times New Roman Font में) की वर्ड एवं पी.डी. एफ. फाइल बनाकर सी.डी. या डी.वी.डी. में हार्ड कॉपी के साथ **आलोचन दृष्टि, कार्यालय** के पते में प्रेषित करें। आपको यदि अपने शोध–लेख का **स्वीकृत पत्र** चाहिए तो एक लिफाफे में अपना नाम, पता पिन कोड सहित लिखकर, आवश्यक स्पीड पोस्ट की डाक टिकट लगाकर भेजें और 3–4 महीने तक अनावश्यक कोई कॉल किसी भी **आलोचन दृष्टि** के प्राधिकारी से न करें। यदि किसी पदाधिकारी से बात करने की जरूरत पड़े तो शाम 6.00–8.00 के बीच संपर्क करें।
3. **शोध–लेख/आलेख में मोबाइल नंबर, ई–मेल एवं पता अंकित होना चाहिए।**
4. शोध–लेख/आलेख की जांच **संपादक मंडल** एवं **आलोचन–दृष्टि–परिवार** के द्वारा की जाएगी उसके उपरांत ही शोध–लेखों/आलेखों को प्रकाशित किया जायेगा, जिसमें **संपादक मंडल** का **निर्णय** अंतिम और सर्वमान्य रहेगा।
5. शोध लेख **यूजीसी** के मानक के अनुरूप होने चाहिए और **संदर्भ–सूची** में पुस्तक का नाम, लेखक का नाम, प्रकाशन का नाम, संस्करण–वर्ष एवं पृष्ठ संख्या तथा पत्रिका के संदर्भ हेतु, उसका अंक, वर्ष, पृष्ठ संख्या आदि– निश्चित रूप से अंकित होने चाहिए। ऐसा न होने पर लेख की **संदर्भ–सूची** को भ्रामक माना जाएगा।
6. पत्रिका के प्रकाशन हेतु लेखकों, पाठकों एवं आलोचकों से सदस्यता भी अपेक्षित रह सकती है, क्योंकि पत्रिका को कोई अनुदान या अंशदान नहीं प्राप्त हो रहा।
7. पत्रिका में सर्वेक्षणात्मक की अपेक्षा वैचारिक शोध–लेखों/आलेखों को वरीयता प्रदान की जायेगी।

Essential conditions for publication of research articles in the journal

1. The research article sent by you should be original, quality, worthy of publication and unpublished, and the **Author's Declaration Form** issued by **Aalochan Drishti** must be filled.
2. To send CD or DVD of your research articles Word & PDF File, with hard copy (Hindi & Sanskrit in **Kruti Dev 10 Font** and English in **Times New Roman Font**) at the address of **Aalochan Drishti**. If you want the Acceptation Letter of your dissertation/article, then write your name, address with pin code in an envelope, to affixing required speed post postage stamp and No unnecessary call for 3-4 months from any officer/ Member of Aalochan Drshiti. If there is a need to talk to any Officer/Member, then contact between 6.00-8.00 in the evening.
3. Mobile number, e-mail and address should be mentioned in the research paper/article.
4. The research-articles will be examined by the **Editorial Board** and **Aalochan Drishti -Family**, only after that the research articles/articles will be published, in which the decision of the **Editorial Board** will be final and binding.
5. Research articles should be as per **UGC standard** and in the **Bibliography** the name of the book, the name of the author, the name of the publication, the edition-year and page number and for the reference of the journal, its issue, year, page number etc.- fixed must be clearly marked. Otherwise, the **Bibliography** of the article will be considered misleading.
6. Subscription may also be required from writers, readers and critics for the publication of the magazine, because the magazine is not receiving any grant or contribution.
7. Preference will be given to conceptual research articles/articles in the journal rather than survey.

आलोचन दृष्टि

आजाद नगर, बिन्दकी, जनपद–फतेहपुर,
उ0प्र0–212635

ई–मेल : aalochan.p@gmail.com